अच्युतग्रन्थमालायाः (ख) विभागे चतुर्थं प्रसूनम्

श्रीमच्छङ्कराचार्यविरचितं

प्रकरणपञ्चकम्

भाषानुवादसहितम्



प्रकाशनस्थानम्—

अच्युतग्रन्थमालाकार्यालयः,

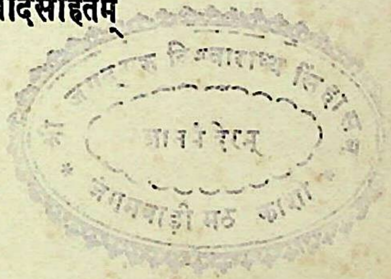
काशी

अच्युतग्रन्थमालायाः (ख) विभागे चतुर्थ प्रसूनम्

श्रीमच्छङ्कराचार्यविरचितं

प्रकरणपञ्चकम्

भाषानुवादसहितम्





प्रकाशनस्थानम्

अच्युतग्रन्थमालाकार्यालयः,

काशी

प्रकाशकः
श्रेष्ठिप्रवरः श्रीगौरीशङ्करगोयनकाः,
अच्युतग्रन्थमाला कार्यालयः,
काशी

मुद्रकः
श्री अपूर्वकृष्णवसुः
इंडियन प्रेस, लिमिटेड,
बनारस-ब्रांच

अच्युतग्रन्थमालायाः (ख) विभागे चतुर्थं प्रसूनम्

श्रीमच्छङ्कराचार्यप्रणीतात्मबोधादिपञ्च-
प्रकरणानां संग्रहरूपं

प्रकरणपञ्चकम्

भाषानुवादसहितम्

काशिकश्रीजोखीराममटरूमलगोयनका-संस्कृतमहाविद्यालय-पुस्तका-
लयाध्यक्षेण अच्युतग्रन्थमालाध्यक्षेण च साहित्याचार्य-
श्रीकृष्णपन्तशास्त्रिणा
सम्पादितम्

प्रकाशनस्थानम्—
अच्युतग्रन्थमालाकार्यालयः,
काशी

प्रथमावृत्तिः १५००]   सं० १९९०   [मूल्यम् ।।)



प्राक्कथन

विधाता की रचना बड़ी विचित्र है। उसने इस जगत् को एक विशाल प्रदर्शनी के रूप में सुसज्जित किया है। सिंह जैसे महाबली एवं घातक जीव यहाँ हैं, तो मृगछौने जैसे निर्बल एवं सुन्दर जीवों की कमी नहीं है; गजराज जैसे विशाल-कलेवर जीव हैं, तो चींटी जैसे क्षुद्रकाय जीवों का अभाव नहीं है; कोयल जैसे मिष्टभाषी जीव हैं, तो कौवे से कटुभाषियों का घाटा नहीं है। अजगर से आलसी हैं तो मधुमक्खी सरीखे उद्यमी भी हैं। कहने का सारांश यह है कि बलवान् से भी बलवान्, निर्बल से भी निर्बल, सुन्दर से भी सुन्दर, कुरूप से भी कुरूप, विशाल से भी विशाल, क्षुद्र से भी क्षुद्र सभी प्रकार के प्राणी इसमें विद्यमान हैं। लेकिन इस विशाल अजायबघर या चतुर बाजीगर के क्रीड़ास्थल में उच्च स्थान केवल मानव जाति को प्राप्त है। विचार करना चाहिए कि मानव जाति में कौन ऐसी विशेषता है, जिससे वह इन सबके ऊपर स्थान पा सकी, सबकी स्वामिनी बन बैठी। अवश्य ही मानव जाति में एक विशेषता है, जो अन्यत्र कहीं नहीं पाई जाती। वह है उसकी धर्मशीलता। धर्म से ही वह उन्नत स्थान की अधिकारिणी हुई है। अन्यथा उसका भी वही स्थान होता, जो अन्य जीवों का। सम्भव है, उससे भी गिरा हुआ होता।

किसी ने ठीक कहा है—

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

पूर्वोक्त धर्म में भी अधिकारी के रुचि-भेद से तारतम्य है। कोई वर्त्तमान दुःख की निवृत्ति के लिए धर्म करता है, तो कोई भगवत्तत्त्व-

ज्ञान के लिए, कोई ऐहिक तथा पारलौकिक सुख-समृद्धि के लिए। पर कोई ज्ञानी महानुभाव लोकशिक्षणार्थ निष्काम धर्म करते हैं। भगवान् ने श्रीमुख से कहा है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।

यद्यपि "न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति" इस वचन के अनुसार ये सभी श्रेष्ठ हैं, पर ज्ञानी तो भगवान् का आत्मा ही है। ब्रह्मसाक्षात्कार सब धर्मों का फल है, सब धर्मों का सार है। मानव जाति की सफलता की परिसीमा वही है।

श्रीमद्भागवत में लिखा है—सृष्टि के प्रारम्भ में स्थावर-जङ्गमात्मक जगत् के अन्यान्य जीवों की सृष्टि करके भी जब भगवान् ब्रह्मा को अपनी कृति से सन्तोष नहीं हुआ तब उन्होंने ब्रह्मसाक्षात्कारक्षम मानव की सृष्टि की। उससे उन्हें बड़ा परितोष हुआ, अपनी कृति में जो अभाव-सा खटक रहा था, वह आनन्दोद्रेक में परिणत हो गया।

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥

[भा० ११ स्क० अ० ११]

इसलिए कहना होगा कि मानव जाति की सर्वोच्च सभ्यता ब्रह्मसाक्षात्कार पर ही निर्भर है। २० वीं शताब्दी के कुछ लोग इस कथन का भले ही उपहास करें। वे भले ही कहें कि वैज्ञानिक अभिनव आविष्कार ही मानव जाति की उच्चता के द्योतक हैं। पर उनकी इस उक्ति में कुछ सार नहीं है। यदि वैज्ञानिक आविष्कार

हो मानव जाति की उच्चता के द्योतक होते तो सर्वोच्च पद भृङ्गीकीट (बिलनी) को, जो दूसरे के बच्चों को अपने घोंसले में भरकर अपना रूप दे देती है, मिलना चाहिए। क्योंकि अविरत परिश्रम करने पर भी आज तक जिस आविष्कार में किसी वैज्ञानिक को सफलता नहीं मिली, उसे वह अनादि काल से कर रही है। इसके अतिरिक्त बहुत से कीड़े-मकोड़े ऐसी सुन्दर रचनाएँ करते हैं, जिसे देखकर बड़े बड़े कलाविद् भी दङ्ग रह जाते हैं।

दूसरी बात यह भी है कि सभी प्राणियों का सुख एवं शान्ति की ओर स्वाभाविक आकर्षण है। चरम सुख एवं चरम शान्ति ही सबका चरम लक्ष्य है। उसकी प्राप्ति जिससे हो, वही सभ्यता की पराकाष्ठा है। हमारे पूर्वज ऋषि-महर्षियों ने उसी की प्राप्ति के लिए सांसारिक सुख-समृद्धि की उपेक्षा की थी। उसके प्रति हेय बुद्धि रखने से ही वे कृती हुए थे। आधुनिक विज्ञान सुख-साधन की अपेक्षा दुःख का साधन हो रहा है। जब से विज्ञान के युग का श्रीगणेश हुआ है, तभी से मानव समाज में अनेक प्रकार के दुःख एवं अशान्ति का साम्राज्य-सा छा गया है। यद्यपि मानव समाज के अस्थायी सुभीते के लिए इससे बहुत कुछ आविष्कार हुए हैं, परन्तु इनके सुखोपभोग की अपेक्षा इनसे भी अधिक सुविधा देनेवाले पदार्थों के आविष्कार की इच्छा लोगों को अधिक बेचैन किये हुए है। जितने अभिनव आविष्कार होते जावेंगे, उतनी ही बेचैनी भी बढ़ती जायगी। मनुष्य की तृष्णा की कोई सीमा नहीं है। तृष्णा पिशाची से जितना मनुष्य सम्बन्ध रक्खेगा, उतना ही दुःख का भाजन होता जायगा। उससे छुटकारा पाने का एक मात्र उपाय है—उपासना, जो पूर्वोक्त ब्रह्म-साक्षात्कार का द्वार है। वह दो प्रकार की है—निर्गुणोपासना एवं सगुणोपासना। निर्गुणोपासना यद्यपि बड़ी दुरूह है, परन्तु है भी अपार आनन्ददात्री।

साधारण सुख भी जब कठिनाई से ही मिलता है तो अपार सुख के लिए कठिनाई का क्या पूछना है?

प्रस्तुत पुस्तक, जिसे लेकर हम पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रहे हैं, निर्गुणोपासना रूप विशाल मन्दिर में प्रवेश पाने की इच्छा-वालों के लिए प्रवेशिका स्वरूप है। निर्गुणोपासना कब से प्रचलित हुई यह नहीं कहा जा सकता। अनादि वेदों, उपनिषदों में जहाँ-तहाँ निर्गुणोपासना की चर्चा की गई है। उसका अस्तित्व अनादि काल से है। लेकिन उसका जो परिवर्द्धित एवं परिष्कृत रूप हम लोगों के सम्मुख है, उसका सम्पूर्ण श्रेय शङ्करावतार आचार्यप्रवर भगवान् शङ्कर को है। उन्होंने अपनी विलक्षण प्रतिभा, अलौकिक अध्यवसाय और निस्सीम पाण्डित्य से, यदि वह पहले कुल्या के रूप में था, तो उसे सागरगामिनी गङ्गा का रूप दिया।

उन्हीं भगवान् शङ्कर ने अनायास साधारण से साधारण पुरुष को बोध कराने के लिए अनेक प्रकरणों की रचना की है। उन्हीं में से पाँच उत्तम प्रकरणों का यह संग्रह है। इसकी सरलता को देखकर कुछ लोग कहते हैं कि यह पाण्डित्यमूर्ति उन शङ्कर की कृति नहीं है, जिनकी प्रौढ़ लेखनी से ब्रह्मसूत्रभाष्य, उपनिषद्भाष्य एवं गीताभाष्य सरीखे गभीराशय ग्रन्थ प्रसूत हुए थे। यह रचना उनके स्थानापन्न परवर्ती शङ्कराचार्यों की होगी। जो भी हो, इस विषय में हमारे पास भी कोई अकाट्य प्रमाण नहीं है। लेकिन प्रसिद्धि यही है कि ये सभी प्रकरण आदि शङ्कराचार्य के ही हैं।

जब वैदिक धर्म एक ओर बौद्धों के अविरत प्रहारों से जर्जर-काय हो रहा था और दूसरी ओर शाक्त और कापालिक आदि भेदों में तहस-नहस होकर उनके अनाचारों से दूषित भी हो चला था, तब एक ऐसे मनस्वी महापुरुष के अवतार की बड़ी आवश्यकता थी, जो विपत्तियों से वैदिक सभ्यता की रक्षा करता

हुआ उसमें विद्यमान दोषों का परिशोधन करता। भगवान् शङ्कर इसी परिस्थिति में अवतीर्ण हुए। जन्मते ही वे सितारे की तरह चमकने लगे। संसार के इतिहास में शायद ही कोई ऐसा महापुरुष मिले, जिसने इतने अल्प वय में इतने महत्त्वपूर्ण कार्य किये हों। अवश्य ही भगवान् शङ्कर का कार्यमय जीवन विश्वमानव के इतिहास में आदर्शस्वरूप है।

केरल देश के कालटी[1] नामक ग्राम में विद्याधिराज[2] नामक एक ब्राह्मण रहते थे। उनके पुत्र का नाम शिवगुरु[3] था। शिवगुरु की पत्नी का नाम था सुभद्रा देवी। उनको बहुत दिनों तक सन्तति नहीं हुई। इससे दम्पती खिन्न रहते थे। एक दिन सुभद्रा देवी ने अपने पति से कहा—नाथ! शास्त्रों में बहुधा मिलता है कि शङ्कर[4] भगवान् की आराधना निष्फल नहीं होती। शिवगुरु ने पत्नी की सलाह मान ली और बहुत दिनों तक शिवजी की आराधना की।

१—तस्येश्वरस्य प्रणतार्तिहर्तुः प्रसादतः प्राप्तनिरीतिभावः।
कश्चित्तदाभ्याशगतोऽग्रहारः कालट्यभिज्ञोऽस्ति महान् मनोज्ञः॥

२—कश्चिद् विपश्चिदिह निश्चलधीर्विरेजे
विद्याधिराज इति विश्रुतनामधेयः।
रुद्रो वृषाद्रिनिलयोऽवतरीतुकामो
यत्पुत्रमात्मपितरं समरोचयत्सः॥

३—पुत्रोऽभवत्तस्य पुरात्तपुण्यैः सुब्रह्मतेजाः शिवगुर्वभिख्यः।
ज्ञाने शिवो यो वचने गुरुस्तस्यान्वर्थनामा कृतलब्धवर्णः॥

शं० दि० २। ३,४,५

४—भक्तेप्सितार्थपरिकल्पनकल्पवृक्षम्
देवं भजाव कमितः सकलार्थसिद्ध्यै।
तत्रोपमन्युमहिमा परमं प्रमाणम्
नो देवतासु जडिमा जडिमा मनुष्ये॥

शं० दि० २। ४७

शिवजी ने उनकी आराधना से प्रसन्न होकर ब्राह्मण[1] के रूप में उन्हें दर्शन दिया और अभीष्ट[2] सिद्धि के लिए वर देकर अन्तर्हित हो गये। शिवजी के प्रसाद से उन्हें पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई थी, इसलिए उन्होंने पुत्र का नाम शङ्कर रक्खा। शङ्कर बाल्यावस्था से ही बड़े मेधावी एवं प्रतिभा-सम्पन्न थे। थोड़ी ही अवस्था में वे अनेक विद्याओं में पारङ्गत हो गये। अपने ग्रन्थों में उन्होंने जिस प्रतिभा का परिचय दिया है, उससे स्पष्टतया ज्ञात होता है कि वेद-वेदाङ्ग आदि शास्त्रों का उनको असाधारण ज्ञान था। केवल आठ ही वर्ष की अवस्था में उन्होंने संन्यास ले लिया और नर्मदा नदी के तीर पर आचार्य गोविन्दपाद के समीप दर्शनशास्त्र का परिशीलन करने लगे। गोविन्दपाद ही उनके गुरु थे। गुरु के प्रति उनमें जो प्रगाढ़ भक्ति थी, वह उनके ग्रन्थों में सर्वत्र स्फुट है। गोविन्दपाद ने कोई ग्रन्थ रचा या नहीं इस विषय में आचार्य मौन हैं। गोविन्दपाद कितने बड़े विद्वान् थे? इसके उत्तर में शङ्कराचार्य की उनके प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा का निर्देश करना ही पर्याप्त है।

उनके संन्यास लेने के समय की घटना बड़ी विचित्र है। आचार्य के पिता तो जब वे केवल ३ वर्ष के थे, तभी दिवंगत हो गये थे। माता से उन्होंने आज्ञा माँगी। पर यह कैसे हो सकता था

१—देवः कृपापरवशो द्विजवेषधारी
प्रत्यक्षतां शिवगुरुं गत आत्तनिद्रम्।
प्रोवाच भोः किमभिवाञ्छसि किं तपस्ते
पुत्रार्थितेति वचनं स जगाद विप्रः॥ शं० दि० २।५१

२—पुत्रोऽस्तु मे बहुगुणः प्रथितानुभावः
सर्वज्ञतापदमितीरित आबभाषे।
दद्यामुदीरितपदं तनयं तपो मा
पूर्णो भविष्यसि गृहं द्विज गच्छ दारैः॥ शं० दि० २।५३

कि अपने जीवन के एकमात्र आधार प्रिय पुत्र को माता संन्यास लेने की आज्ञा देती।

श्रीशङ्कराचार्य ने बहुत अनुनय-विनय किया, ज्ञानोपदेश[1] किया; पर माता ने उनकी एक न सुनी। शङ्कराचार्य बड़े असमञ्जस में पड़ गये। एक ओर उनका मन संसार से विरक्त था, दूसरी ओर माता उन्हें संसारसूत्र में बाँधना चाहती थीं। माता की आज्ञा बिना वे संन्यास लेना भी नहीं चाहते थे। इसी बीच में एक दिन जब कि शङ्कर भगवान् अपने गृह के समीप की नदी में स्नान कर रहे थे, ग्राह ने उनका पाँव पकड़ लिया। यह बात जब माता को मालूम हुई, उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वे आर्त स्वर में शिवजी की स्तुति करने लगीं और लगीं अपने जीवन को कोसने। शङ्कर ने माता से कहा--माता, यदि आप मुझे संन्यास लेने की आज्ञा दे देती हैं तो शायद ग्राह मुझे छोड़ दे। लाचार होकर माता को आज्ञा देनी पड़ी और शङ्कर ने मन से संन्यास ले लिया। उसी समय दुष्ट नक्र ने उनका पाँव छोड़ दिया। तदनन्तर शङ्कर भगवान् ने माता से कहा—माता, संन्यासी के योग्य जो कार्य हो उसे कहिये। भोजनाच्छादन की तो मुझसे आपको कोई आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि जो लोग मेरे पैतृक धन को लेंगे, उनका यह अवश्य कर्तव्य होता है कि वे जीवनावस्था में तुम्हारी देख-रेख करें, मरने के बाद पारलौकिक संस्कार करें। माता ने कहा—पुत्र! संन्यास स्वीकार करने से जलचर के मुख से तुम्हारा जो छुटकारा हुआ वह मुझे अभीष्ट है। लेकिन मेरी मृत्यु के बाद तुम्हीं को मेरा संस्कार करना होगा। इस पर शङ्कर—

---

१ कति नाम सुता न लालिताः कति वा नेह वधूरभुञ्जि हि।
क नु ते क च ताः क वा वयं भवसङ्गः खलु पान्थसङ्गमः॥
शं० दि० ५। ५२।

अहश्यम्ब रात्रिसमये समयान्तरे वा सञ्चिन्तय स्ववशगाऽवशगाऽथवा माम् ।
एष्यामि तत्र समयं सकलं विहाय विश्वासमाप्नुहि मृतावपि संस्करिष्ये ॥

शं० दि० ५ । ७१ ।

कहकर संन्यासी हो गये ।

अध्ययन समाप्त होने पर गुरु की आज्ञा से आचार्य्य काशी पधारे । काशी को उन्होंने अपने प्रचार का केन्द्र बनाया । वहीं से उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा का विकाश हुआ । उन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना काशी तथा वदरीधाम में की थी । १६ वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने अपने सब ग्रन्थों की रचना कर ली थी । ग्रन्थ-रचना-काल में वे विद्यार्थियों को अध्यापन भी कराते थे । उनके चार शिष्य प्रसिद्ध हैं—(१) पद्मपादाचार्य्य, (२) सुरेश्वराचार्य्य, (३) हस्तामलकाचार्य्य एवं (४) त्रोटकाचार्य्य । ग्रन्थों को समाप्त कर एवं छात्र-सम्पत्ति से सम्पन्न होकर शङ्कर भगवान् दिग्विजय के लिए प्रस्थित हुए । दिग्विजय में अधिक समय लगा होगा, क्योंकि उस समय कटक से लेकर अटक तक और कन्याकुमारी से केदार तक परिभ्रमण सहजसाध्य नहीं था । पण्डितों को शास्त्रार्थ में परास्त करना भी काल-सापेक्ष है । इससे ज्ञात होता है कि भगवान् शङ्कर ने अपनी आयु के १२ वें वर्ष से लेकर १६वें वर्ष तक का काल ग्रन्थ-रचना में व्यतीत किया और १७ वें से ३२वें तक का समय दिग्विजय, मठ-स्थापन तथा मन्दिर स्थापन आदि में व्यतीत किया । दिग्विजय में उन्हें राजाओं से भी सहायता मिली थी । इस विषय में स्वामी विद्यारण्य लिखते हैं—

अथ शिष्यवरैर्युतः सहस्रैरनुयातः स सुधन्वना च राज्ञा ।
ककुभो विजिगीषुरेष सर्वाः प्रथमं सेतुमुदारधीः प्रतस्थे ॥

शं० दि० १५ । १

कृतपूजः क्रथकैशिकेश्वरेण । १५ । ७ ।

स्वामी विद्यारण्य ने महामुनि व्यासजी के साथ आचार्य शङ्कर के साक्षात्कार का वर्णन किया है। वे लिखते हैं—एक दिन आचार्य काशी में मणिकर्णिका के समीप अपने शिष्यों को पढ़ा रहे थे। इतने में एक बुड्ढा ब्राह्मण आकर कहने लगा—आप क्या पढ़ा रहे हैं? शिष्यों ने कहा—ये महाभाग हमारे गुरु हैं। समस्त उपनिषदों का अर्थ इन्हें हस्तामलकवत् है, ब्रह्मसूत्र पर इन्होंने भाष्य रचा है और भेदवाद का निरास किया है। वृद्ध ने भाष्यकार से कहा—आपके विषय में ये लोग बड़ी डींग हाँक रहे हैं, इससे हमें कोई प्रयोजन नहीं है। यदि आप परम ऋषि के सूत्रों का अर्थ जानते हों तो किसी एक सूत्र का व्याख्यान कीजिए। भाष्यकार ने बड़े विनय से सूत्रार्थज्ञ गुरुओं को प्रणाम करके कहा—भगवन्! सूत्रार्थज्ञता का तो मुझे तनिक भी अहङ्कार नहीं है, तो भी जो आप पूछेंगे उसे कहूँगा। इन्होंने तृतीय अध्याय के प्रारम्भ का "तदन्तरप्रतिपत्तौ०" सूत्र पूछा। भाष्यकार ने दृष्टान्तपूर्वक तुरन्त उसकी स्पष्ट व्याख्या कर दी। परन्तु उक्त वृद्ध ने सैकड़ों विकल्प करके उनकी व्याख्या का खण्डन कर दिया। भाष्यकार ने भी दृढ़ता से उनकी उक्ति का खण्डन और अपने पक्ष का समर्थन किया। इस प्रकार बराबर आठ दिन तक वाद-विवाद चलता रहा।

शास्त्रार्थ का अन्त न देखकर पद्मपादाचार्य ने आचार्य से कहा—ये साधारण वृद्ध नहीं हैं, वेदान्त के परमरहस्यज्ञ साक्षात् महामुनि वेदव्यास हैं। आप साक्षात् शङ्कर हैं। आप लोगों का विवाद इसी प्रकार वर्षों तक अविरत चल सकता है। ऐसी परिस्थिति में मैं किङ्कर क्या करूँ? यह सुनकर शङ्कराचार्य बड़े विनय और श्रद्धा से महामुनि की स्तुति करने लगे—भगवन्! आप आनन्दघन परमात्मस्वरूप हैं।

यमामनन्ति श्रुतयः पदार्थं न सन्न चासन्न बहिर्न चान्तः।
स सच्चिदानन्दघनः परात्मा नारायणस्त्वं पुरुषः पुराणः॥

इत्यादि अनेक श्लोक इस प्रसङ्ग में स्वामी विद्यारण्य ने उनकी प्रशंसा के लिए लिखे हैं।

महामुनि ने भी आचार्य के अलौकिक पाण्डित्य को भूरि-भूरि प्रशंसा की और कहा—आप शुकदेव के समान हमारे स्नेह-भाजन हैं—

त्वमसदादेः पदवीं गतोऽभूरखण्डपाण्डित्यमवोधयं ते।
शुकर्षिवत्प्रीतिकरोऽसि विद्वन् पुरेव शिष्यैः सह मा अभीस्त्वम् ॥

और आचार्य के भाष्य की बड़ी श्लाघा की। उनकी सब विषयों में अप्रतिहत गति देखकर कहा—आप साक्षात् ज्ञानराशि शङ्कर हैं। उनसे यह भी अनुरोध किया कि आप नास्तिकता एवं द्वैत का निरास कर पृथ्वी में अद्वैतमत का प्रचार कीजिए। किंवदन्ती है कि इसी लिए १६ वर्ष की आयु शङ्कराचार्यजी को उन्होंने और दी। जब तक चन्द्र सूर्य* रहेंगे तब तक आपके भाष्य का जगत् में आदर होगा—ऐसा वर देकर व्यासजी अन्तर्हित हो गये।

यहीं से आचार्य शङ्कर का दिग्विजय-प्रयाण प्रारम्भ होता है। जब वे प्रयाग पहुँचे तो वहाँ भट्टपाद कुमारिल से उनका मिलन हुआ। कुमारिल भट्ट उस समय तुषानल प्रायश्चित्त कर रहे थे। उन्होंने बौद्धों से उनका मत पढ़कर पीछे उसका खण्डन किया था। इस गुरुद्रोह का प्रायश्चित्त तुषानल में प्रवेश करना ही उन्होंने उचित समझा। स्वामी विद्यारण्य लिखते हैं कि भट्टपाद द्वारा अपने भाष्य पर वार्तिक लिखाने के लिए शङ्कराचार्य अत्युत्सुक थे। जब उन्होंने सुना कि कुमारिल तुषानल में प्रविष्ट हुए हैं, तब वे उनके समीप गये और अपना भाष्य उन्हें दिखाया। कुमारिल ने भाष्य की बड़ी प्रशंसा की और कहा—केवल अध्यास भाष्य में ही आठ हज़ार वार्तिक हो सकते हैं। यदि मैंने दीक्षा न ली होती तो अवश्य इस पर वार्तिक लिखता।

* भूयाच्च भाष्यमिदमारविचन्द्रतारम्।—शं० दि० ७। ५५

प्रयाग में कुमारिल से मिलने के बाद शङ्कराचार्य्य मगधदेशवर्ती 'माहिष्मती' नगर में गये। वहाँ तदानीन्तन पण्डित-मण्डन मण्डन मिश्र से उनका साक्षात्कार हुआ। मण्डन मिश्र बड़े मीमांसक थे। उस समय उनके समान मगध में कोई दूसरा पण्डित नहीं था। आचार्य ने शास्त्रार्थ में उनको परास्त किया। इनके शास्त्र-विचार में मध्यस्थ थीं मण्डन मिश्र की पत्नी श्रीमती भारतीदेवी। ये तात्कालिक रमणियों की विद्वत्ता के विषय में अपूर्व दृष्टान्त हैं। शङ्कर और मण्डन के समान महापण्डितों की विचार-चर्चा में मध्यस्थता के लिए कितने विपुल ज्ञान की आवश्यकता थी—यह बात अनायास समझ में आ सकती है।

मण्डन मिश्र ने, शास्त्रार्थ में पराजित होने पर, संन्यासाश्रम ग्रहण कर लिया और वे सुरेश्वर नाम से विख्यात हुए। शङ्कराचार्य्य और मण्डन-कुमारिल के मत में पार्थक्य इतना ही है कि आचार्य्य शङ्कर कर्म्मकाण्ड को ज्ञान का सहकारी मानते हैं; किन्तु भट्टपाद कुमारिल तथा मण्डन मिश्र कर्म को ही परम पुरुषार्थ मानते हैं।

मण्डन को पराजित करके आचार्य्य दाक्षिणात्य विद्वानों पर विजय प्राप्त करने के लिए दक्षिण की ओर अग्रसर हुए। वहाँ उन्होंने शैव, कापालिक आदि को पराजित कर उनके अवैदिक आचार को दूर किया। इसी बीच में उग्रभैरव नामक एक कापालिक ने आचार्य्य के कार्य्यों से असन्तुष्ट होकर उनका बलिदान करना चाहा। इसी इच्छा से वह आचार्य्य का कपटशिष्य हो गया; पर उसकी अभिलाषा सिद्ध नहीं हुई। जब वह आचार्य का जीवन लेने के लिए उतारू हुआ, तभी पद्मपादाचार्य्य ने उसे धराशायी कर दिया। इस घटना से शङ्कराचार्य्य के असाधारण व्यक्तित्व तथा उनकी अलौकिक साधना का परिचय मिलता है। कापालिक के खड्ग के नीचे भी वे अविचल एवं शान्त रहे।

यहाँ से आचार्य्य और दक्षिण की ओर अग्रसर हुए। तुङ्गभद्रा नदी के तट पर उन्होंने शारदा देवी की स्थापना की। उसी के साथ एक मठ बनवाया, जो शृङ्गेरी मठ नाम से विख्यात है। सुरेश्वराचार्य्य इसी मठ के अध्यक्ष नियुक्त हुए थे। किंवदंती है कि इसी मठ में रहते समय पद्मपादाचार्य्य ने 'पञ्चपादिका' की रचना की थी।

यहीं से आचार्य की आज्ञा पाकर पद्मपादाचार्य्य तीर्थ-यात्रा करने के लिए चले गये। आचार्य भी योगदृष्टि से अपनी माता का आसन्न-समय जानकर माता के समीप उपस्थित हुए। माता का वैकुण्ठ-वास होने पर उनके संस्कार आदि से निवृत्त होकर फिर वे शृङ्गेरी मठ को लौट आये। वहाँ से पुन: दिग्विजय के लिए प्रस्थित हुए। इस यात्रा में उन्होंने पुरी धाम में गोवर्द्धन मठ की स्थापना की और पद्मपादाचार्य्य को उक्त मठ का अध्यक्ष नियत किया। वहाँ से काञ्ची में जाकर वहाँ के शाक्त सम्प्रदाय के भीतर जो अनेक अनाचार थे, उनका परिशोधन किया। आचार्य के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यों में यह भी एक महत्त्व का कार्य है कि उन्होंने सभी सम्प्रदायों के दोषों को दूर करने की प्राण-पण से चेष्टा की। शाक्त, कापालिक आदि सम्प्रदायों के अनाचारों का नि:शेष परिशोध कर उन्हें पवित्र किया, परन्तु किसी सम्प्रदाय की उपासना में हस्तक्षेप नहीं किया। मालूम होता है कि आचार्य्य के अलौकिक प्रभाव से अनेक तात्कालिक राजा-महाराज प्रभावित हो उठे थे। इससे आचार्य्य को अपने कार्य्य में अपूर्व सफलता प्राप्त हुई। इस संस्कार-कार्य्य में आचार्य्य को बहुत काल-यापन करना पड़ा। इस प्रकार दक्षिण भारत में सर्वत्र वैदिक धर्म-पताका फहराकर तथा वेदान्त की महिमा का उद्घोष कर आचार्य्य ने दूसरी बार फिर उत्तर भारत को प्रस्थान किया। कुछ दिन बरार प्रान्त में रहकर वे उज्जयिनी पहुँचे। उस समय वहाँ भैरवगणों की भीषण साधन-नीति का साम्राज्य छाया हुआ था।

किंवदंती है कि श्रीशङ्कराचार्य्य ने उस देश के तात्कालिक राजा को अपने मत में लाकर उसकी सहायता से भैरव आदि के अनाचार का बलपूर्वक परिशोधन किया था।

उज्जयिनी से आचार्य्य गुजरात गये। उन्होंने द्वारका में एक मठ की स्थापना की और हस्तामलकाचार्य को उसका अधिपति नियुक्त किया। वहाँ से मार्ग में विद्वानों को शास्त्र-विचार में परास्त करते हुए आचार्य काश्मीर शारदाक्षेत्र में पहुँचे। शारदापीठ में अपने भाष्य की प्रतिष्ठा कराकर, वहाँ के तात्कालिक विद्वानों को जीतकर, अपने मत का प्रचार किया। वहाँ से लौटकर आचार्य्य आसाम प्रान्त में उपस्थित हुए। वहाँ कामरूपस्थित शाक्त पण्डित अभिनवगुप्त के साथ उनका शास्त्रार्थ हुआ। अभिनवगुप्त शास्त्रार्थ में आचार्य के सामने नहीं ठहर सके। स्पन्द सम्प्रदाय के आचार्य्य काश्मीरी अभिनवगुप्तपाद से ये अभिनव भिन्न हैं। स्पन्द सम्प्रदाय के अभिनवगुप्त दशवीं शताब्दी में हुए थे। इनके साथ आचार्य्य का साक्षात्कार कदापि सम्भव नहीं है। शास्त्रार्थ में असफल होकर उक्त अभिनवगुप्त ने अभिचार के बल से आचार्य्य को भगन्दर रोग से पीड़ित कर दिया। पश्चात् पद्मपादाचार्य्य की चेष्टा से आचार्य्य इस रोग से निर्मुक्त हुए।

आचार्य्य आसाम से लौटकर बदरी धाम को प्रस्थित हुए। वहाँ उन्होंने ज्योतिर्मठ की स्थापना की और साथ ही बदरीनारायण-जी का मन्दिर भी बनवाया। आचार्य्य ने उपर्युक्त मठ का अध्यक्ष त्रोटकाचार्य्य को बनाया। इस प्रकार भारत में चारों ओर भ्रमण कर, वर्णों, आश्रमों एवं सम्प्रदायों में विद्यमान अनाचारों का निराकरण कर आचार्य्य ने भारतीय संस्कृति की जो सेवा की वह अवर्णनीय है। उनके पीछे भी उसकी स्थिति अविचल बनी रहे, इसके लिए भी वे रचनात्मक कार्य कर गये। भारत की चारों दिशाओं में मठों की

२

स्थापना उन्होंने इसी उद्देश्य से की थी। इन मठों से इस दिशा में अब भी कुछ न कुछ कार्य्य हो ही रहा है। बदरीनारायण के मन्दिर की प्रतिष्ठा कर आचार्य्य केदारधाम चले गये। वहीं भारतगगन का देदीप्यमान सूर्य्य अस्त हो गया। श्रीशङ्कर भगवत्पाद के जीवन की सभी घटनाएँ लिखी जायँ तो एक बड़ा पोथा तैयार हो सकता है। यह अति संक्षेप में केवल दिग्दर्शनमात्र है।

भगवान् शङ्कराचार्य कब अवतीर्ण हुए इस विषय में अनेक मत-मतान्तर हैं। कोई उनका आविर्भाव-काल ४४ खीष्टाब्द पूर्व मानते हैं तो कोई षष्ठ शताब्दी के शेष में उनकी उत्पत्ति निश्चित करते हैं। कोई-कोई अष्टम शताब्दी के शेष भाग तक पहुँच चुके हैं। सभी ने अपने पक्ष की सिद्धि के लिए प्रबल युक्तियाँ उपस्थित की हैं, अपनी अभीष्ट-सिद्धि के लिए पूर्ण चेष्टा की है। परन्तु शङ्कराचार्य के ग्रन्थों की अन्तरङ्ग बहिरङ्ग समीक्षा के उपरान्त तथा उन मठों के कागज़-पत्रों की आलोचना के पश्चात् जिनकी गुरु-परम्परा अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है, उपर्युक्त मत असिद्ध प्रतीत होते हैं।

श्रीयुक्त राजेन्द्रनाथ घोष महाशय ने शङ्कर-काल-निर्णय सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों का अवलोकन कर, शृङ्गेरी प्रभृति मठों की आचार्य-परम्परा से सम्बन्ध रखनेवाले कागज़ात की आलोचना कर एवं अनेक विद्वानों तथा आचार्यों से परामर्श कर, इस दिशा में अच्छा प्रयत्न किया है। वे उक्त समीक्षा के उपरान्त इस निश्चय को पहुँचे हैं कि आचार्य का जन्म ६८४ खीष्टाब्द में हुआ था। घोष महाशय ने आचार्य के उपर्युक्त जन्म-काल को स्थिर करने के लिए अनेक हृदयङ्गम युक्तियाँ दी हैं, जो वस्तुतः युक्तियुक्त भी हैं। हम विस्तार-भय से उनका यहाँ पर उल्लेख करने में असमर्थ हैं, जो इस विषय के जिज्ञासु हों, उन्हें 'आचार्य शङ्कर और रामानुज' पुस्तक देखनी चाहिए।

भगवान् आदि-शङ्कराचार्य के निम्नलिखित ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं*—

(१) ब्रह्मसूत्र-भाष्य†

(२) एकादशोपनिषद्भाष्य‡

(३) गीता-भाष्य

(४) विष्णुसहस्रनाम-भाष्य

(५) सनत्सुजातीय-भाष्य

(६) हस्तामलक-भाष्य

(७) ललितात्रिशती-भाष्य

(८) प्रकरण ग्रन्थ§

---

* कुछ लोग कहते हैं कि श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्य तथा सर्वसिद्धान्तसंग्रह की रचना भी आदि-शङ्कराचार्य्य ने ही की है।

† आचार्य्य के सभी ग्रन्थों के अनेक संस्करण निकल चुके हैं। वाणी-विलास प्रेस, श्रीरङ्गम् से प्रकाशित संस्करण अति उत्तम है।

‡ (१) ईशावास्योपनिषद्भाष्य (२) केनोपनिषद्भाष्य (३) कठोपनिषद्-भाष्य (४) प्रश्नोपनिषद्भाष्य (५) मुण्डोपनिषद्भाष्य (६) माण्डूक्योपनिषद्-भाष्य (७) ऐतरेयोपनिषद्भाष्य (८) तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्य (९) छान्दोग्यो-पनिषद्भाष्य (१०) बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य (११) नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिष-द्भाष्य।

§ (१) विवेकचूडामणि (२) उपदेशसाहस्री (३) अपरोक्षानुभूति (४) वाक्यवृत्ति (५) स्वात्मनिरूपण (६) आत्मबोध (७) शतश्लोकी (८) दशश्लोकी (९) सर्ववेदान्तसिद्धान्तसंग्रह (१०) प्रबोधसुधाकर (११) स्वात्मप्रकाशिका (१२) मनीषापञ्चक (१३) अद्वैतपञ्चरत्न (१४) निर्वाणषट्क (१५) अद्वैतानुभूति (१६) ब्रह्मानुचिन्तन (१७) प्रश्नोत्तररत्नमालिका (१८) सदाचारानुसन्धान (१९) योगतारावली (२०) उपदेशपञ्चक (२१) धन्याष्टक (२२) जीवन्मुक्तानन्दलहरी (२३) अनात्मश्रीविगर्हणप्रकरण (२४) यतिपञ्चक (२५) पञ्चीकरण (२६) तत्त्वोपदेश (२७) एकश्लोकी (२८) मायापञ्चक (२९) प्रौढानुभूति (३०) ब्रह्मज्ञानावलीमाला (३१) लघुवाक्यवृत्ति (३२) निर्वाणमञ्जरी (३३) दृग्दृश्यविवेक (३४) स्वरूपानुसन्धान।

(९) स्तोत्रसमूह*

(१०) प्रपञ्चसार (तन्त्र)

भगवान् शङ्कराचार्य के ग्रन्थों में किसकी रचना पहले हुई और किसकी पश्चात् इस प्रकार क्रमिक निर्देश करना कठिन है। कुछ लोग कहते हैं कि उनकी सर्व-प्रथम कृति विष्णुसहस्रनामभाष्य है। तदनन्तर उन्होंने प्रकरण ग्रन्थों की रचना की। पश्चात् गीताभाष्य और उपनिषद्भाष्य रचे। ब्रह्मसूत्रभाष्य उनकी सबसे अन्तिम कृति है। परन्तु इस विषय में दृढ़तापूर्वक कुछ निश्चय नहीं किया जा सकता। इसमें कुछ सन्देह नहीं है कि ब्रह्मसूत्रभाष्य में शङ्कर भगवान् की सर्वतोमुखी असाधारण प्रतिभा तथा मनीषा का पद-पद में परिचय मिलता है। उसकी अति प्रौढ़ प्रतिपादनशैली एवं पदार्थ-गाम्भीर्य देखकर निस्सन्देह कहा जा सकता है कि वह आचार्य की सर्वोत्कृष्ट कृति है। सम्भवत: वह सर्वान्तिम भी हो।

इन पाँच प्रकरणों का भाषानुवाद वेदान्त-शास्त्र के मर्मज्ञ गङ्गा-तीर-निवासी एक महात्माजी की कृपा से सम्पन्न हुआ है। महात्माजी की आज्ञा से मैं उनका प्रातःस्मरणीय नाम प्रकाशित करने में असमर्थ हूँ।

यह पुस्तक २ वर्ष पूर्व ही छप चुकी थी। किन्तु मेरे प्रमाद से इसके प्रकाशन में विलम्ब हुआ है। एतदर्थ पूज्य महात्माजी तथा उदार पाठकों से क्षमा-याचना करता हूँ।

काशी
चैत्र शुक्ल १ सं० १९९० } विनीत
श्रीकृष्ण पन्त

* (१) गणपति-स्तोत्र (२) सुब्रह्मण्य-स्तोत्र (३) ईश्वर-स्तोत्र (४) देवी-स्तोत्र (५) विष्णु-स्तोत्र (६) संकीर्ण-स्तोत्र।

विषय-सूची


आत्मबोधः

॥ श्रीः ॥

॥ आत्मबोधः ॥

तपोभिः क्षीणपापानां शान्तानां वीतरागिणाम् ॥
मुमुक्षूणामपेक्ष्योऽयमात्मबोधो विधीयते ॥ १ ॥

नाना तपस्याओं से जिनके पाप नष्ट हो चुके हैं, शान्त और विषयों से निस्पृह मुमुक्षुजनों के विचारने के योग्य इस आत्मबोध नामक निबन्ध का निर्माण किया जाता है ॥ १ ॥

बोधोऽन्यसाधनेभ्यो हि साक्षान्मोक्षैकसाधनम् ॥
पाकस्य वह्निवज्ज्ञानं विना मोक्षो न सिद्ध्यति ॥ २ ॥

ज्ञान अन्य साधनों से उत्पन्न होता है और साक्षात् मोक्ष का साधन है, जैसे अग्नि के बिना पाक की सिद्धि नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञान के बिना मोक्ष की सिद्धि नहीं होती है ॥ २ ॥

अविरोधितया कर्म नाविद्यां विनिवर्तयेत् ॥
विद्याऽविद्यां निहन्त्येव तेजस्तिमिरसङ्घवत् ॥ ३ ॥

विरोध के अभाव से कर्म अविद्या को निवृत्त नहीं कर सकता, जैसे तेज अन्धकार के समूह को नष्ट कर देता है, वैसे ही ज्ञान अविद्या को निवृत्त कर ही देता है ॥ ३ ॥

अवच्छिन्न इवाज्ञानात्तन्नाशे सति केवलः ॥
स्वयं प्रकाशते ह्यात्मा मेघापायेंऽशुमानिव ॥ ४ ॥

आत्मा अज्ञान से अवच्छिन्न (आवृत) की भाँति प्रतीत होता है, अज्ञान के नाश हो जाने पर केवल (एक) आत्मा प्रकाशमान होता है, जैसे मेघों के हट जाने पर सूर्य स्वयं प्रकाशमान होता है ॥ ४ ॥

अज्ञानकलुषं जीवं ज्ञानाभ्यासाद्विनिर्मलम् ॥
कृत्वा ज्ञानं स्वयं नश्येज्जलं कतकरेणुवत् ॥ ५ ॥

जैसे जल को निर्मल करके कतकरेणु (निर्मली का चूर्ण) नष्ट हो जाता है वैसे ही अज्ञान से मलिन हुए जीव को ज्ञान के अभ्यास से निर्मल करके ज्ञान स्वयं नष्ट हो जाता है ॥ ५ ॥

संसारः स्वप्नतुल्यो हि रागद्वेषादिसंकुलः ॥
स्वकाले सत्यवद्भाति प्रबोधे सत्यसद्भवेत् ॥ ६ ॥

रागद्वेष आदि से परिपूर्ण यह संसार स्वप्न के तुल्य है, जैसे स्वप्न स्वप्नकाल में सत्य की भाँति प्रतीत होता हुआ भी जाग्रत् अवस्था होते ही असत्य हो जाता है, वैसे ही जाग्रत्काल में सत्य की भाँति प्रतीत होता हुआ भी यह संसार तत्त्वज्ञान होते ही असत्य हो जाता है ॥६॥

तावत्सत्यं जगद्भाति शुक्तिका रजतं यथा ॥
यावन्न ज्ञायते ब्रह्म सर्वाधिष्ठानमद्वयम् ॥ ७ ॥

तब तक शुक्ति में रजत की भाँति यह जगत् सत्य ज्ञात होता है, जब तक सर्वाधिष्ठान अद्वितीय ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता ॥ ७ ॥

उपादानेऽखिलाधारे जगन्ति परमेश्वरे ॥
सर्गस्थितिलयान् यान्ति बुद्बुदानीव वारिणि ॥ ८ ॥

जैसे बुद्बुद जल में उत्पत्ति, स्थिति और लय को प्राप्त होते हैं, वैसे ही यह समस्त जगत् सर्वाधार सर्वोपादान (सब के कारण) ब्रह्म में उत्पत्ति, स्थिति और लय को प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

सच्चिदात्मन्यनुस्यूते नित्ये विष्णौ प्रकल्पिता ॥
व्यक्तयो विविधाः सर्वा हाटके कटकादिवत् ॥ ९ ॥

जैसे सुवर्ण में कटक कुण्डल आदि कल्पित हैं, वैसे ही सत् चित् रूप से सब में अनुगत (घटघटव्यापी) एवं नित्य, विष्णु में नाना प्रकार की सब व्यक्तियाँ कल्पित हैं ॥ ९ ॥

यथाकाशो हृषीकेशो नानोपाधिगतो विभुः ॥
तद्भेदाद्भिन्नवद् भाति तन्नाशे केवलो भवेत् ॥ १० ॥

जैसे व्यापक आकाश भी नाना उपाधियों (घटाकाश, मठाकाश आदि) के योग से नाना मालूम पड़ता है, उसी भाँति व्यापक परमात्मा भी नाना उपाधियों के योग से भिन्न जैसा प्रतीत होता है, उपाधियों का नाश होने पर वह एक ही है ॥ १० ॥

नानोपाधिवशादेव जातिनामाश्रमादयः ॥
आत्मन्यारोपितास्तोये रसवर्णादिभेदवत् ॥ ११ ॥

जैसे जल में उपाधियों के योग से अम्ल, कटु एवं तिक्त आदि रस और नील पीत आदि वर्णों के भेद आरोपित हैं, उसी प्रकार आत्मा में नाना उपाधियों के योग से जाति, नाम और आश्रम आदि आरोपित हैं ॥ ११ ॥

पञ्चीकृतमहाभूतसंभवं कर्मसंचितम् ॥
शरीरं सुखदुःखानां भोगायतनमुच्यते ॥ १२ ॥

पञ्चीकृत महाभूतों का कार्य, कर्मों से रचा हुआ, यह स्थूल शरीर सुखदुःखों के भोग का स्थान कहा जाता है ॥ १२ ॥

पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम् ॥
अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम् ॥ १३ ॥

पञ्च प्राण, मन, बुद्धि और दश इन्द्रियों से युक्त अपञ्चीकृत महाभूतों का कार्य सूक्ष्म शरीर भोग का साधन है ॥ १३ ॥

अनाद्यविद्यानिर्वाच्या कारणोपाधिरुच्यते ॥
उपाधित्रितयादन्यमात्मानमवधारयेत् ॥ १४ ॥

अनादि एवं अनिर्वचनीय अविद्या कारणशरीर कहा जाता है इन तीन उपाधियों से जो भिन्न है और इनका साक्षी है, वह आत्मा है, ऐसा निश्चय करना चाहिए ॥ १४ ॥

पञ्चकोशादियोगेन तत्तन्मय इव स्थितः ॥
शुद्धात्मा नीलवस्त्रादियोगेन स्फटिको यथा ॥१५॥

जैसे नील पीत आदि वस्त्रों के योग से स्फटिक नीलपीत रूप हो जाता है, वैसे ही शुद्ध आत्मा पञ्चकोश आदि के योग से तत् तत् कोशरूप हो जाता है ॥ १५ ॥

वपुस्तुषादिभिः कोशैर्युक्तं युक्त्यवघाततः ॥
आत्मानमान्तरं शुद्धं विविञ्च्यात्तण्डुलं यथा॥१६॥

जैसे लोग तुष (भूसी) से युक्त तण्डुलों को कूटकर तुष से पृथक् कर लेते हैं, उसी प्रकार पञ्चकोशों से युक्त सर्वान्तर शुद्ध आत्मा को अन्वय व्यतिरेक रूप युक्ति से पृथक् कर लेना चाहिये ॥ १६ ॥

सदा सर्वगतोऽप्यात्मा न सर्वत्रावभासते ॥
बुद्धावेवावभासेत स्वच्छेषु प्रतिबिम्बवत् ॥ १७ ॥

सर्वदा सर्वत्र स्थित भी आत्मा सर्वत्र नहीं भासता है, किन्तु स्वच्छ दर्पण में प्रतिविम्व की भाँति बुद्धि में ही भासता है ॥ १७ ॥

देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्रकृतिभ्यो विलक्षणम् ॥
तद्वृत्तिसाक्षिणं विद्यादात्मानं राजवत्सदा ॥१८॥

जैसे अमात्यादि प्रकृतियों से राजा भिन्न है, उसी प्रकार देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि से भिन्न, उनकी वृत्तियों के साक्षी को आत्मा जानना चाहिये ॥ १८ ॥

व्यापृतेष्विन्द्रियेष्वात्मा व्यापारीवाविवेकिनाम् ॥
दृश्यतेऽभ्रेषु धावत्सु धावन्निव यथा शशी ॥१९॥

जैसे मेघों के चलने से चन्द्रमा चलता हुआ दिखाई देता है, उसी प्रकार अज्ञानी पुरुषों को इन्द्रियों के व्यापार में आत्मा के व्यापार की प्रतीति होती है ॥ १९ ॥

आत्मचैतन्यमाश्रित्य देहेन्द्रियमनोधियः ॥
स्वकीयार्थेषु वर्तन्ते सूर्यालोकं यथा जनाः ॥२०॥

जैसे सूर्य के प्रकाश को पाकर संसारी जीव अपने अपने कार्य में संलग्न हो जाते हैं, वैसे ही आत्मा के चैतन्य को पाकर देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि अपने अपने विषय में प्रवृत्त होते हैं ॥२०॥

देहेन्द्रियगुणान् कर्माण्यमले सच्चिदात्मनि ॥
अध्यस्यन्त्यविवेकेन गगने नीलतादिवत् ॥२१॥

जैसे आकाश में नीलता का अध्यास करते हैं, वैसे ही निर्मल सत् चित् स्वरूप आत्मा में अज्ञान से देह, इन्द्रिय के गुण और कर्मों का अध्यास करते हैं ॥ २१ ॥

अज्ञानान्मानसोपाधेः कर्तृत्वादीनि चात्मनि ॥
कल्प्यन्तेऽम्बुगते चन्द्रे चलनादि यथाम्भसः ॥२२॥

जैसे जलस्थ चन्द्रमा में जल की चञ्चलता की कल्पना करते हैं, उसी तरह अज्ञान से मन रूप उपाधि के कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व की आत्मा में कल्पना करते हैं ॥ २२ ॥

रागेच्छासुखदुःखादि बुद्धौ सत्यां प्रवर्तते ॥
सुषुप्तौ नास्ति तन्नाशे तस्माद्बुद्धेस्तु नात्मनः ॥२३॥

राग, इच्छा, सुख, दुःख आदि बुद्धि के सद्भाव में ही प्रवृत्त होते हैं, सुषुप्ति में बुद्धि के नाश होने पर प्रवृत्त नहीं होते, इसलिए राग आदि बुद्धि के ही धर्म हैं, आत्मा के धर्म नहीं हैं ॥ २३ ॥

प्रकाशोऽर्कस्य तोयस्य शैत्यमग्नेर्यथोष्णता ॥
स्वभावः सच्चिदानन्दनित्यनिर्मलतात्मनः ॥२४॥

जैसे सूर्य में प्रकाश, जल में शीतलता, एवं अग्नि में उष्णता स्वभावसिद्ध है, उसी प्रकार आत्मा में सद्रूपता, चिद्रूपता, आनन्दस्वरूपता, नित्यता और निर्मलता स्वभावसिद्ध हैं ॥ २४ ॥

आत्मनः सच्चिदंशश्च बुद्धेर्वृत्तिरिति द्वयम् ॥
संयोज्य चाविवेकेन जानामीति प्रवर्तते ॥२५॥

आत्मनो विक्रिया नास्ति बुद्धेर्बोधो न जात्विति ॥
जीवः सर्वमलं[1] ज्ञात्वा ज्ञाता द्रष्टेति मुह्यति ॥२६॥

आत्मा के सत् चित् अंश को और बुद्धि की वृत्ति को अज्ञान से मिलाकर मैं जानता हूँ, ऐसा कहता है। आत्मा में विकार नहीं है। बुद्धि में ज्ञान नहीं है। जीव इन बातों को न जानकर मैं जानता हूँ, करता हूँ, देखता हूँ इस प्रकार व्यर्थ ही मोह को प्राप्त होता है ॥ २५—२६ ॥

रज्जुसर्पवदात्मानं जीवं ज्ञात्वा भयं वहेत् ॥
नाहं जीवः परात्मेति ज्ञातश्चेन्निर्भयो भवेत् ॥२७॥

१—'अलं' निषेधार्थक अव्यय है।

रज्जु में सर्प के भ्रम की भाँति आत्मा को जीव समझकर भय को प्राप्त होता है, मैं जीव नहीं हूँ, किन्तु परमात्मा ही हूँ, इस प्रकार जानने से निर्भय हो जाता है ॥ २७ ॥

आत्मावभासयत्येको बुद्ध्यादीनीन्द्रियाणि हि ॥
दीपो घटादिवत्स्वात्मा जडैस्तैर्नावभास्यते ॥२८॥

जैसे दीपक घट आदि को प्रकाशित करता है, किन्तु घट आदि दीप को प्रकाशित नहीं कर सकते, उसी प्रकार आत्मा बुद्धि आदि इन्द्रियों को प्रकाशित करता है, किन्तु जड़ बुद्धि आदि से आत्मा प्रकाशित नहीं होता ॥ २८ ॥

स्वबोधे नान्यबोधेच्छा बोधरूपतयात्मनः ॥
न दीपस्यान्यदीपेच्छा यथा स्वात्मप्रकाशने ॥२९॥

जैसे प्रकाशरूप होने से दीपक अपने प्रकाश के लिए दीपान्तर की अपेक्षा नहीं करता है, उसी प्रकार स्वप्रकाश आत्मा को अपने ज्ञान के लिए अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है ॥ २९ ॥

निषिध्य निखिलोपाधीन्नेति नेतीति वाक्यतः ॥
विद्यादैक्यं महावाक्यैर्जीवात्मपरमात्मनोः ॥३०॥

'नेति नेति' इत्यादि वाक्यों से सब उपाधियों का निषेध कर महावाक्यों से जीवात्मा और परमात्मा की एकता जाननी चाहिये ॥ ३० ॥

आविद्यकं शरीरादि दृश्यं बुद्बुदवत्क्षरम् ॥
एतद्विलक्षणं विद्यादहं ब्रह्मेति निर्मलम् ॥३१॥

अविद्या से उत्पन्न हुए शरीर आदि दृश्य पदार्थ जल-बुद्बुद की भाँति नश्वर हैं, इनसे विलक्षण, निर्मल ब्रह्म को ही आत्मा समझना चाहिये ॥ ३१ ॥

देहान्यत्वान्न मे जन्मजराकार्श्यलयादयः ॥
शब्दादिविषयैः सङ्गो निरिन्द्रियतया न च ॥३२॥

मैं देह से भिन्न हूँ, अतः जन्म, जरा, कृशता, स्थूलता और मृत्यु आदि देहधर्म मेरे धर्म नहीं हैं; मैं इन्द्रियों से पृथक् हूँ, अतः इन्द्रियों के विषय शब्द आदि से मेरा सम्बन्ध नहीं है ॥ ३२ ॥

अमनस्त्वान्न मे दुःखरागद्वेषभयादयः ॥
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्र इत्यादि श्रुतिशासनात् ॥३३॥

मैं मन नहीं हूँ, अतः दुःख, राग, द्वेष और भय आदि मेरे धर्म नहीं हैं। 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्र' इत्यादि श्रुति मुझको प्राण और मन से रहित एवं शुद्ध बतलाती हैं ॥ ३३ ॥

निर्गुणो निष्क्रियो नित्यो निर्विकल्पो निरञ्जनः ॥
निर्विकारो निराकारो नित्यमुक्तोऽस्मि निर्मलः॥३४॥

मैं निर्गुण, निष्क्रिय, नित्य, निर्विकार, निरञ्जन, निर्विकल्प, नित्यमुक्त और निर्मल हूँ ॥ ३४ ॥

अहमाकाशवत्सर्वं बहिरन्तर्गतोऽच्युतः ॥
सदा सर्वसमः सिद्धो निःसङ्गो निर्मलोऽचलः ॥३५॥

मैं आकाश की भाँति सब के बाहर भीतर स्थित हूँ, अच्युत (अविनाशी) हूँ, सदा सब में सम हूँ, सिद्ध हूँ, निस्सङ्ग हूँ, निर्मल हूँ और अचल हूँ ॥ ३५ ॥

नित्यशुद्धविमुक्तैकमखण्डानन्दमद्वयम् ॥
सत्यं ज्ञानमनन्तं यत्परं ब्रह्माहमेव तत् ॥३६॥

नित्यशुद्ध, नित्यमुक्त, एक, अखण्डानन्द, अद्वितीय, सत्य, ज्ञानस्वरूप और अनन्त जो ब्रह्म वह मैं ही हूँ ॥ ३६ ॥

एवं निरन्तरकृता ब्रह्मैवास्मीति वासना ॥
हरत्यविद्याविक्षेपान् रोगानिव रसायनम् ॥३७॥

इस प्रकार नित्य अभ्यास करने से दृढ़ हुई—मैं ब्रह्म ही हूँ—यह वासना अज्ञान और तज्जनित विक्षेपों को उसी प्रकार नष्ट कर देती है, जैसे रसायन रोगों को दूर कर देता है ॥ ३७ ॥

विविक्तदेश आसीनो विरागो विजितेंद्रियः ।
भावयेदेकमात्मानं तमनन्तमनन्यधीः ॥ ३८ ॥

एकान्त में बैठकर राग को त्यागकर इन्द्रियों को अपने वश में करके एकाग्रचित्त होकर मैं अनन्त हूँ और एक हूँ, ऐसा चिन्तन करना चाहिये ॥ ३८ ॥

आत्मन्येवाखिलं दृश्यं प्रविलाप्य धिया सुधीः ॥
भावयेदेकमात्मानं निर्मलाकाशवत्सदा ॥ ३९ ॥

समस्त दृश्य प्रपञ्च को बुद्धि से आत्मा में लीन करके बुद्धिमान् पुरुष निर्मल आकाश के सदृश एक आत्मा का सदा चिन्तन करे ॥३९॥

रूपवर्णादिकं सर्वं विहाय परमार्थवित् ॥
परिपूर्णचिदानन्दस्वरूपेणावतिष्ठते ॥ ४० ॥

परमार्थवेत्ता पुरुष नाम रूप आदि सब को छोड़कर परिपूर्ण चिदानन्द रूप से स्थित होता है ॥ ४० ॥

ज्ञातृज्ञानज्ञेयभेदः परे नात्मनि विद्यते ॥
चिदानन्दैकरूपत्वाद् दीप्यते स्वयमेव हि ॥४१॥

परमात्मा में ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय का भेद नहीं है; चिदानन्दैकस्वरूप होने से वह स्वतः प्रकाशमान है ॥ ४१ ॥

एवमात्मारणौ ध्यानमथने सततं कृते ॥
उदितावगतिज्वाला सर्वाज्ञानेन्धनं दहेत् ॥४२॥

इस तरह आत्मा रूप अरणि में निरन्तर ध्यान रूप मथन करने से उत्पन्न हुई ज्ञान रूप ज्वाला समस्त अज्ञान रूपी इन्धनों को नष्ट (दग्ध) कर देती है ॥ ४२ ॥

अरुणेनेव बोधेन पूर्वं सन्तमसे हृते ॥
तत आविर्भवेदात्मा स्वयमेवांशुमानिव ॥४३॥

जैसे प्रथम अरुणोदय से अन्धकार के नष्ट हो जाने पर पीछे सूर्य प्रकट होता है, उसी भाँति ज्ञान से अज्ञान के नाश हो जाने पर आत्मा स्वयमेव प्रकट हो जाता है ॥ ४३ ॥

आत्मा तु सततं प्राप्तोऽप्यप्राप्तवदविद्यया ॥
तन्नाशे प्राप्तवद् भाति स्वकण्ठाभरणं यथा ॥४४॥

आत्मा तो सर्वदा प्राप्त है, परन्तु अविद्या के कारण अप्राप्त की भाँति प्रतीत होता है, विद्या से अविद्या के नष्ट हो जाने पर अपने कण्ठ में स्थित भूषण की भाँति प्राप्त हुआ सा प्रतीत होता है ॥४४॥

स्थाणौ पुरुषवद्भ्रान्त्या कृता ब्रह्मणि जीवता ॥
जीवस्य तात्त्विके रूपे तस्मिन् दृष्टे निवर्तते ॥४५॥

स्थाणु में जैसे पुरुष का भ्रम होता है, उसी प्रकार ब्रह्म में जीव का भ्रम किया गया है। जीव के तात्त्विक (वास्तविक) स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर वह भ्रम निवृत्त हो जाता है ॥ ४५ ॥

तत्त्वस्वरूपानुभवादुत्पन्नं ज्ञानमञ्जसा ॥
अहं ममेति चाज्ञानं बाधते दिग्भ्रमादिवत् ॥४६॥

तत्त्व स्वरूप के अनुभव से उत्पन्न हुआ ज्ञान अहंता ममता रूपो अज्ञान का उसी प्रकार नाश करता है, जैसे सूर्य का उदय दिग्-भ्रम का नाश कर देता है ॥ ४६ ॥

सम्यग्विज्ञानवान् योगी स्वात्मन्येवाखिलं स्थितम् ॥
एकञ्च सर्वमात्मानमीक्षते ज्ञानचक्षुषा ॥ ४७ ॥

यथार्थ ज्ञानवान् योगी ज्ञानदृष्टि से समस्त विश्व को स्वात्मा में और एक आत्मा को समस्त विश्व में स्थित देखता है ॥ ४७ ॥

आत्मैवेदं जगत्सर्वमात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥
मृदो यद्वद्घटादीनि स्वात्मानं सर्वमीक्षते ॥४८॥

यह समस्त संसार आत्मा ही है, आत्मा से पृथक् कुछ भी नहीं है, जैसे घट शराव आदि मृत्तिका से भिन्न नहीं हैं, किन्तु मृत्तिका स्वरूप ही हैं, इसलिए ज्ञानवान् सबको आत्मा ही समझता है ॥४८॥

जीवन्मुक्तस्तु तद्विद्वान् पूर्वोपाधिगुणांस्त्यजेत् ।
स सच्चिदादिधर्मत्वं भेजे भ्रमरकीटवत् ॥४९॥

जीवन्मुक्त विद्वान् पूर्वोक्त उपाधि (शरीरादि) के गुणों का त्याग करे, भ्रमर और कीट की भाँति सत् चित् आदि धर्मों का स्वीकार करे ॥ ४९ ॥

तीर्त्वा मोहार्णवं हत्वा रागद्वेषादिराक्षसान् ॥
योगी शान्तिसमायुक्त आत्मारामो विराजते ॥५०॥

मोहरूपी समुद्र को तैरकर और रागद्वेषादि रूपी राक्षसों को मारकर शान्ति को प्राप्त हुआ योगी आत्मा ही में रमण करता है ॥५०॥

बाह्यानित्यसुखासक्तिं हित्वात्मसुखनिर्वृतः ॥
घटस्थदीपवच्छश्वदन्तरेव प्रकाशते ॥ ५१ ॥

बाह्य अनित्य सुख की आसक्ति का त्याग कर आत्मसुख से सुखी होकर घट में स्थित दीपक की भाँति सदा भीतर ही प्रकाशमान होता है ॥ ५१ ॥

उपाधिस्थोऽपि तद्धर्मैरलिप्तो व्योमवन्मुनिः ॥
सर्वविन्मूढवत्तिष्ठेदसक्तो वायुवच्चरेत् ॥ ५२ ॥

शरीरादि उपाधियों में स्थित भी मुनि आकाश की भाँति उपाधियों के धर्मों से लिप्त नहीं होता है सर्वज्ञ होता हुआ भी मूर्ख की भाँति रहता है, आसक्तिरहित होता हुआ भी वायु की भाँति विचरता है ॥ ५२ ॥

उपाधिविलयाद्विष्णौ निर्विशेषं विशेन्मुनिः ॥
जले जलं वियद्व्योम्नि तेजस्तेजसि वा यथा ॥५३॥

जैसे उपाधि के नाश होने से जल जल में, आकाश आकाश में, तेज तेज में लीन हो जाता है, उसी प्रकार उपाधि के लय-चिन्तन से विशेष भाव का त्यागकर मुनि विष्णु में प्रवेश कर जाता है ॥५३॥

यल्लाभान्नापरो लाभो यत्सुखान्नापरं सुखम् ॥
यज्ज्ञानान्नापरं ज्ञानं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥५४॥

जिसके लाभ से बढ़कर अन्य लाभ नहीं है, जिसके सुख से बढ़कर अन्य सुख नहीं है, जिसके ज्ञान से बढ़कर अन्य ज्ञान नहीं है, वह ब्रह्म मैं हूँ, ऐसा निश्चय करना चाहिये ॥ ५४ ॥

यद् दृष्ट्वा नापरं दृश्यं यद् भूत्वा न पुनर्भवः ॥
यज्ज्ञात्वा नापरं ज्ञेयं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥५५॥

जिसका दर्शन करके अन्य के दर्शन की अभिलाषा नहीं रहती है, जिस स्वरूप को प्राप्त कर पुनर्जन्म नहीं होता है, जिसका ज्ञान प्राप्त करके ज्ञानान्तर की इच्छा नहीं होती है, वह ब्रह्म मैं हूँ, ऐसा निश्चय करना चाहिये ॥ ५५ ॥

तिर्यगूर्ध्वमधःपूर्णं सच्चिदानन्दमद्वयम् ॥
अनन्तनित्यमेकं यत् तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥५६॥

तिरछे ऊपर नीचे सर्वत्र परिपूर्ण, सत्, चित्, आनन्द, अद्वितीय, नित्य, एक और अनन्त जो ब्रह्म है, वह मैं ही हूँ, यह निश्चय करना चाहिये ॥ ५६ ॥

अतद्व्यावृत्तिरूपेण वेदान्तैर्लक्ष्यतेऽव्ययम् ॥
अखण्डानन्दमेकं यत्तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥५७॥

वेदान्ती लोग ब्रह्म से भिन्न का निषेध करके जिस अव्यय अखण्डानन्द एक ब्रह्म का लक्षण करते हैं, वह ब्रह्म मैं ही हूँ, ऐसा निश्चय करना चाहिये ॥ ५७ ॥

अखण्डानन्दरूपस्य तस्यानन्दलवाश्रिताः ॥
ब्रह्माद्यास्तारतम्येन भवन्त्यानन्दिनोऽखिलाः ॥५८॥

अखण्डानन्द रूप उस ब्रह्म के आनन्द-लव को प्राप्त कर ब्रह्म आदि समस्त प्राणी आनन्दवान् होते हैं ॥ ५८ ॥

तद्युक्तमखिलं वस्तु व्यवहारश्चिदन्वितः ॥
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म क्षीरे सर्पिरिवाखिले ॥ ५९ ॥

समस्त विश्व चैतन्य से युक्त है और सब व्यवहार चैतन्य-युक्त हैं, इसलिए दूध में घी के समान ब्रह्म सर्वव्यापक है ॥ ५९ ॥

अनण्वस्थूलमह्रस्वमदीर्घमजमव्ययम् ॥
अरूपगुणवर्णाख्यं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥ ६० ॥

जो न अणुरूप है, न स्थूल, न ह्रस्व, न दीर्घ, न जन्मता है और न मरता है, नाम, रूप और गुणों से रहित है, वह ब्रह्म मैं हूँ, ऐसा निश्चय करना चाहिये ॥ ६० ॥

यद्भासा भास्यतेऽर्कादि भास्यैर्यत्तु न भास्यते ॥
येन सर्वमिदं भाति तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥ ६१ ॥

जिसके प्रकाश से सूर्य चन्द्र आदि भासित होते हैं, परन्तु सूर्य और चन्द्र आदि के प्रकाश से जो प्रकाशित नहीं होता है, जिससे यह सब प्रतीत होता है, वह ब्रह्म मैं ही हूँ, ऐसा निश्चय करना चाहिये ॥६१॥

स्वयमन्तर्बहिर्व्याप्य भासयन्नखिलं जगत् ॥
ब्रह्म प्रकाशते वह्निप्रतप्तायसपिण्डवत् ॥ ६२ ॥

अग्नि से तप्त लौहपिण्ड की भाँति भीतर और बाहर व्याप्त होकर सारे जगत् को प्रकाशित करता हुआ ब्रह्म प्रकाशमान हो रहा है ॥६२॥

जगद्विलक्षणं ब्रह्म ब्रह्मणोऽन्यन्न किञ्चन ॥
ब्रह्मान्यद्भाति चेन्मिथ्या यथा मरुमरीचिका ॥६३॥

ब्रह्म जगत् से विलक्षण है, ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है; ब्रह्म से भिन्न अन्य कुछ यदि प्रतीत होता है तो उसे मृगतृष्णा की भाँति मिथ्या समझना चाहिये ॥ ६३ ॥

दृश्यते श्रूयते यद्यद् ब्रह्मणोऽन्यन्न तद्भवेत् ॥
तत्त्वज्ञानाच्च तद्ब्रह्म सच्चिदानंदमद्वयम् ॥६४॥

जो देखने में और सुनने में आता है, वह ब्रह्म से विलक्षण नहीं है, वास्तव में वह ब्रह्म सत् चित्, आनन्द और अद्वितीय है ॥ ६४ ॥

सर्वगं सच्चिदानन्दं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते ॥
अज्ञानचक्षुर्नेक्षेत भास्वन्तं भानुमन्धवत् ॥६५॥

सत् चित्, आनन्द सर्वव्यापक है परन्तु ज्ञाननेत्र से ही दीखता है। जैसे प्रकाशमान सूर्य को अन्ध पुरुष नहीं देख सकता, वैसे ही सर्वत्र व्यापक सत् चित् आनन्द को अज्ञानचक्षु (अज्ञानी) नहीं देख सकता ॥ ६५ ॥

श्रवणादिभिरुद्दीप्तज्ञानाग्निपरितापितः ॥
जीवः सर्वमलान्मुक्तः स्वर्णवद् द्योतते स्वयम् ॥६६॥

श्रवण आदि से प्रदीप्त और ज्ञान रूप अग्नि से परितप्त जीव सब मलों से रहित होकर स्वयं स्वर्ण की भाँति चमकता है ॥ ६६ ॥

हृदाकाशोदितो ह्यात्मा बोधभानुस्तमोपहृत् ॥
सर्वव्यापी सर्वधारी भाति भासयतेऽखिलम् ॥६७॥

हृदयाकाश में उदय हुआ आत्मज्ञान रूप सूर्य अज्ञान रूप अन्धकार को नष्ट कर देता है, सर्वव्यापक सर्वाधार होकर स्वयं भासमान होता है एवं सबका भान करवाता है ॥ ६७ ॥

दिग्देशकालाद्यनपेक्ष्य सर्वगं
शीतादिहृन्नित्यसुखं निरञ्जनम् ।
यः स्वात्मतीर्थं भजते विनिष्क्रियः
स सर्ववित् सर्वगतोऽमृतो भवेत् ॥ ६८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्द-
भगवत्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छङ्करभगवतः
कृतौ आत्मबोधः सम्पूर्णः

दिक्, देश, काल आदि की जिसको अपेक्षा नहीं है, जो सर्वव्यापक है, शीतोष्ण आदि द्वंद्वों को हरनेवाला है, नित्य सुख, उपाधिरहित और आत्मतीर्थ है, उसका जो पुरुष सेवन करता है, वह कर्मों के बन्धनों से रहित होकर सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और अमर हो जाता है ॥ ६८ ॥




प्रौढानुभूतिः

॥ श्रीः ॥

प्रौढानुभूतिः

प्रौढप्रौढनिजानुभूतिगलितद्वैतेन्द्रजालो गुरु-
र्गूढं गूढमघौघदुष्टकुधियां स्पष्टं सुधीशालिनाम्।
स्वान्ते सम्यगिहानुभूतमपि सच्छिष्यावबोधाय त-
त्सत्यं संस्मृतवान् समस्तजगतां नैजं निजालोकनात्॥१॥

गुरु ने अत्यन्त परिपक्व आत्मज्ञान से द्वैतरूपी इन्द्रजाल को हटाकर पाप से दूषित बुद्धियों के लिए अतिगुप्त, सुबुद्धियों के लिए सुलभ, समस्त जगतों के आत्मस्वरूप, उस सत्य का—यद्यपि वह बार बार हृदय में स्वयं अनुभूत था तो भी—शिष्य जनों के हित के लिए स्मरण किया ॥ १ ॥

द्वैतं मय्यखिलं समुत्थितमिदं मिथ्या मनःकल्पितं
तोयं तोयविवर्जिते मरुतले भ्रान्त्यैव सिद्धं न हि।
यद्येवं खलु दृश्यमेतदखिलं नाहं न वा तन्मम
प्रौढानन्दविवेकसन्मयवपुः शुद्धोऽस्म्यखण्डोऽस्म्यहम्॥२॥

मुझ में जो यह द्वैत उत्पन्न हुआ है यह सारा द्वैत जल-शून्य मरुस्थल में जल की भाँति भ्रमसिद्ध, कल्पित और मिथ्या है; क्योंकि यह किसी प्रमाण से भी सिद्ध नहीं है। जब ऐसा

ही है तो यह समस्त जगत् न मद्रूप है, न मेरा है, यदि होता तो मैं या मेरा कहने का प्रश्न भी होता, मैं तो प्रौढ़ आनन्द चित् सत् रूप, शुद्ध और अखण्ड हूँ ॥ २ ॥

देहो नाहमचेतनोऽयमनिशं कुड्यादिवन्निश्चितो
नाहं प्राणमयोऽपि वा दृतिधृतो वायुर्यथा निश्चितः ।
सोऽहं नापि मनोमयः कपिचलः कार्पण्यदुष्टो न वा
बुद्धिर्बुद्धकुवृत्तिकेव कुहना नाज्ञानमन्धन्तमः ॥३॥

मैं देह नहीं हूँ, क्योंकि देह घट कुड्य आदि की भाँति सदा निश्चित अचेतन है, प्राणमय कोश भी मैं नहीं हूँ, क्योंकि वह चर्म की नली में भरे हुए वायु के समान जड़ है। वानर के समान चञ्चल एवं कार्पण्यदुष्ट (वहिर्मुखता से दूषित) मनोमय कोश भी मैं नहीं हूँ; कुत्सित आचरण करने वाली एवं वेश्या की भाँति चञ्चल बुद्धि भी मैं नहीं हूँ, घोर अन्धकार रूप अज्ञान भी मैं नहीं हूँ ॥३॥

नाहं खादिरपि स्फुटं मरुतलभ्राजत्पयःसाम्यत-
स्तेभ्यो नित्यविलक्षणोऽखिलदृशिः सौरप्रकाशो यथा ।
दृश्यैः सङ्गविवर्जितो गगनवत्सम्पूर्णरूपोऽस्म्यहं
वस्तुस्थित्यनुरोधतस्त्वहमिदं वीच्यादिसिन्धुर्यथा ॥४॥

आकाश आदि पञ्चभूत भी मैं नहीं हूँ, क्योंकि ये तो स्पष्ट ही मरुस्थल में प्रकाशमान मृगतृष्णा की नदी के सदृश हैं, मैं उनसे नित्य विलक्षण हूँ, सूर्य के प्रकाश के सदृश मैं समस्त जगत् का ज्ञानरूप प्रकाश हूँ, दृश्य जगत् से मेरा संग नहीं है, मैं आकाश के समान सम्पूर्ण हूँ, वास्तव में यह समस्त मैं ही हूँ, क्योंकि वीचि तरङ्ग, बुद्बुद आदि समुद्र रूप ही तो हैं ॥ ४ ॥

निर्द्वैतोऽस्म्यहमस्मि निर्मलचिदा-
काशोऽस्मि पूर्णोऽस्म्यहम्,
निर्देहोऽस्मि निरिन्द्रियोऽस्मि नितरां
निष्प्राणवर्गोऽस्म्यहम्।
निर्मुक्ताशुभमानसोऽस्मि विगल-
द्विज्ञानकोशोऽस्म्यहम्,
निर्मायोऽस्मि निरन्तरोऽस्मि विपुल-
प्रौढप्रकाशोऽस्म्यहम् ॥ ५ ॥

मैं निर्द्वैत हूँ, निर्मल चिदाकाश हूँ, पूर्ण हूँ, देह और इन्द्रियों से रहित हूँ, प्राणवर्ग से भी रहित हूँ, न मैं मनोमय कोश हूँ, न विज्ञानमय कोश हूँ और न मैं माया हूँ, किन्तु मैं निरन्तर (अटूट) प्रौढ़ प्रकाश हूँ ॥ ५ ॥

मत्तोऽन्यन्न हि किंचिदस्ति यदि चिद्-
भास्यं ततस्तन्मृषा,
गुञ्जावह्निवदेव सर्वकलना-
धिष्ठानभूतोऽस्म्यहम्।
सर्वस्यापि दृगस्म्यहं समरसः
शान्तोऽस्म्यपापोऽस्म्यहम्,
पूर्णोऽस्मि द्वयवर्जितोऽस्मि विपुला-
काशोऽस्मि नित्योऽस्म्यहम् ॥ ६ ॥

मुझ से अन्य कोई वस्तु नहीं है, यदि चिति का भास्य (दृश्य) है तो वह सब मिथ्या है। गुञ्जावह्नि के समान मैं सब कल्पनाओं

का अधिष्ठान हूँ। मैं सबका ज्ञान हूँ, समरस हूँ, शान्त हूँ, अपाप हूँ, पूर्ण हूँ, द्वैत से रहित विपुल आकाश हूँ, नित्य हूँ ॥ ६ ॥

मय्यस्मिन्परमार्थके श्रुतिशिरो-
वेद्ये स्वतो भासते,
का वा विप्रतिपत्तिरेतदखिलं
भात्येव यत्संनिधेः।
सौरालोकवशात्प्रतीतमखिलं
पश्यन्न तस्मिञ्जनः,
संदिग्धोऽस्त्यत एव केवलशिवः
कोऽपि प्रकाशोऽस्म्यहम् ॥ ७ ॥

उपनिषदों से वेद्य एवं स्वयं प्रकाश मुझ परमार्थ वस्तु में किसको विवाद हो सकता है ? मेरी ही सन्निधि से यह सारा जगत् भासता है, सूर्य प्रकाश से प्रकाशित जगत् को देखता हुआ पुरुष कभी भी सूर्य की सत्ता के विषय में सन्देह नहीं कर सकता, अत एव मैं केवल शिव, प्रकाश रूप कोई हूँ ॥ ७ ॥

नित्यस्फूर्तिमयोऽस्मि निर्मलसदा-
काशोऽस्मि शान्तोऽस्म्यहं,
नित्यानन्दमयोऽस्मि निर्गतमहा-
मोहान्धकारोऽस्म्यहम्।
विज्ञातं परमार्थतत्त्वमखिलं
नैजं निरस्ताशुभं,
मुक्तप्राप्यसमपास्तभेदकलना
कैवल्यसंज्ञोऽस्म्यहम् ॥८॥

मैं नित्यस्फूर्ति (नित्यज्ञान) हूँ, निर्मल सदाकाश हूँ, शान्त हूँ, नित्यानन्दमय हूँ, महामोहान्धकार से रहित हूँ, जिसमें किसी प्रकार का अशुभ नहीं है, जो मुक्त पुरुषों का प्राप्तव्य स्थान है, वह अपना परमार्थ-स्वरूप मैंने जान लिया है; सब भेदों से रहित कैवल्यसंज्ञक मैं ही हूँ ॥ ८ ॥

स्वाप्नद्वैतवदेव जाग्रतमपि द्वैतं मनोमात्रकं
मिथ्येत्येव विहाय सच्चिदमलस्वान्तैकरूपोऽस्म्यहम् ।
यद्वा वेद्यमशेषमेतदनिशं मद्रूपमेवेत्यपि
ज्ञात्वा त्यक्तमरुन्महोदधिरिव प्रौढो गभीरोऽस्म्यहम् ॥

स्वाप्न-द्वैत की भाँति जाग्रत-द्वैत भी मनोमात्र है, मिथ्यात्वबुद्धि से उसका त्याग कर मैं सत् चित् एवं निर्मल स्वान्त रूप हूँ, अथवा ज्ञान का विषय यह सारा जगत् मेरा ही रूप है, यह जानकर पवन-रहित निश्चल महासमुद्र की भाँति मैं प्रौढ़ एवं गम्भीर हूँ ॥ ९ ॥

गन्तव्यं किमिहास्ति सर्वपरि-
पूर्णस्याप्यखण्डाकृतेः,
कर्त्तव्यं किमिहास्ति निष्क्रियतनो-
र्मोक्षैकरूपस्य मे ।
निर्द्वैतस्य न हेयमन्यदपि वा
नो वाप्युपेयान्तरं
शान्तोऽद्यास्मि विमुक्ततोयविमलो
मेघो यथा निर्मलः ॥ १० ॥

सर्वत्र परिपूर्ण मुझ अखण्डाकार को कहाँ जाना है ? अर्थात् कहीं नहीं । सब क्रियाओं से रहित मुझ मोक्ष-स्वरूप को क्या कर्तव्य

है ? अर्थात् कुछ नहीं। द्वैत तो है ही नहीं अतः न तो त्याग करने के योग्य कोई वस्तु है और न ग्रहण करने के योग्य, आज मैं बरसे हुए (वृष्टि कर चुके हुए) मेघ की नाईं निर्मल हूँ ॥१०॥

किं न प्राप्तमितः पुरा किमधुना लब्धं विचारादिना
यस्मात्तत्सुखरूपमेव सततं जाज्वल्यमानोऽस्म्यहम् ।
किं वापेक्ष्यमिहापि मय्यतितरां मिथ्याविचारादिकं
द्वैताद्वैतविवर्जिते समरसे मौनं परं संमतम् ॥११॥

पहिले मुझे क्या प्राप्त नहीं था? अब विचार आदि साधनों से क्या मिल गया है ? मैं तो वही सुखरूप सदा प्रकाशमान हूँ, विचार आदि सब मिथ्या हैं, मुझे उनकी कौन अपेक्षा है ? मैं द्वैत और अद्वैत से रहित समरस हूँ, इसलिए मौन ही सर्वसम्मत है ॥ ११ ॥

श्रोतव्यं च किमस्ति पूर्णशुद्धृशो मिथ्यापरोक्षस्य मे
मन्तव्यं च न मेऽस्ति किंचिदपि वा निःसंशयज्योतिषः।
ध्यातृध्येयविभेदहानिवपुषो न ध्येयमस्त्येव मे
सर्वात्मैकमहारसस्य सततं नो वा समाधिर्मम ॥१२॥

मुझ में परोक्षत्व की कल्पना मिथ्या है, मैं तो नित्य अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) हूँ, मेरे ही सम्बन्ध से सारे विश्व का प्रत्यक्ष होता है, फिर मैं परोक्ष कैसे हो सकता हूँ ? जिस शर्करा के सम्बन्ध से तण्डुल आदि समस्त पदार्थ मधुर हो जाते हैं, क्या उस शर्करा में भी मधुरता का सन्देह हो सकता है ? मैं पूर्ण ज्ञानरूप हूँ, मेरे लिए श्रोतव्य (सुनने के योग्य) क्या है ? जिसका ज्ञान न्यून हो वह भले ही श्रवण करे, मैं निःसंशय ज्योतिःस्वरूप हूँ, इसलिए मेरे लिए मन्तव्य (मनन करने के योग्य) कुछ भी नहीं है, जिसको संशय हो वह मनन करे,

मुझमें ध्याता और ध्येय का भेद ही नहीं है, अतः मेरे लिए ध्येय (ध्यान करने योग्य) कोई नहीं है, मैं तो एक ही रूप से सबका आत्मा हूँ, मुझे समाधि से क्या प्रयोजन है ॥ १२ ॥

आत्मानात्मविवेचनापि मम नो विद्वत्कृता रोचते-
ऽनात्मा नास्ति यदस्ति गोचरवपुः को वा विवेक्तुं क्षमी ।
मिथ्यावादविचारचिन्तनमहो कुर्वन्त्यदृष्टात्मका
भ्रान्ता एव न पारगा दृढधियस्तूष्णीं शिलावत्स्थिताः॥१३॥

पण्डितों से की गई यह आत्मा और अनात्मा की विवेचना भी मुझे पसन्द नहीं है, अनात्मा है ही नहीं, यदि कहो कि इन्द्रियों द्वारा नजर आता है, अतः वह है, तो कौन मनुष्य विवेक कर सकता है कि वह सत्य है ? क्योंकि स्वप्न के पदार्थ भी इन्द्रियों से ही दिखाई देते हैं और वे होते हैं सब असत्य । जिन्होंने आत्म-दर्शन नहीं किया वे मूर्ख ही मिथ्या-वाद, मिथ्या-विचार एवं मिथ्या-चिन्तन किया करते हैं। शास्त्रपारङ्गत दृढ़बुद्धि लोग तो शिला के समान चुप रहते हैं ॥ १३ ॥

वस्तुस्थित्यनुरोधतस्त्वहमहो
कश्चित्पदार्थो न चा-
प्येवं कोऽपि विभामि संततदृष्टि-
वाङ्मानसागोचरः ।
निष्पापोऽस्म्यभयोऽस्म्यहं विगतदुः-
शङ्काकलङ्कोऽस्म्यहं,
संशान्तानुपमानशीतलमहः-
प्रौढप्रकाशोऽस्म्यहम् ॥ १४ ॥

यद्यपि वस्तुस्थिति के अनुरोध से मैं किसी पद का अभिधेय नहीं हूँ, तथापि मैं कोई अलौकिक रूप से विराजमान हूँ—मैं निरन्तर ज्ञानस्वरूप हूँ, मन और वाणी का अगोचर हूँ, निष्पाप हूँ, अभय हूँ, दुष्ट शङ्काओं के कलङ्क से रहित हूँ, अत्यन्त शान्त, अनुपम, शीतल एवं तेजरूप प्रौढ़ प्रकाश हूँ ॥ १४ ॥

योऽहं पूर्वमितः प्रशान्तकलनाशुद्धोऽस्मि बुद्धोऽस्म्यहं
यस्मान्मत्त इदं समुत्थितमभूदेतन्मया धार्यते ।
मय्येव प्रलयं प्रयाति, निरधिष्ठानाय तस्मै सदा
सत्यानन्दचिदात्मकाय विपुलप्रज्ञाय मह्यं नमः ॥१५॥

जब इस जगत् की सत्ता नहीं थी, तब भी सब कल्पनाओं से रहित, शुद्ध एवं ज्ञानस्वरूप मैं था, मुझसे ही यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ है, मैंने ही इसे धारण कर रखा है, मुझमें ही यह लीन हो जाता है। अधिष्ठानरहित, चिदानन्दस्वरूप और महाबुद्धि जो मैं हूँ, मेरे लिए सर्वदा नमस्कार है ॥ १५ ॥

सत्ताचित्सुखरूपमस्ति सततं नाहं च न त्वं मृषा
नेदं वापि जगत्प्रदृष्टमखिलं नास्तीति जानीहि भोः ।
यत्प्रोक्तं करुणावशात्त्वयि मया तत्सत्यमेतत्स्फुटं
श्रद्धत्स्वानघ शुद्धबुद्धिरसि चेन्मात्रास्तु ते संशयः ॥

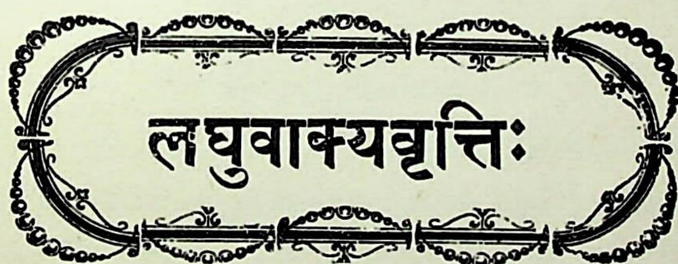
सदा सब वस्तु सत् चित् और सुखस्वरूप हैं, न मैं हूँ, न तुम हो, न यह दृश्यमान जगत् ही है, इन सबको मिथ्या समझो। हे अनघ ! दया के वश में होकर मैंने जो कुछ तुमसे कहा है उसे तुम सत्य ही जानो। हे वत्स ! श्रद्धा करो, तुम शुद्धबुद्धि हो, तुम्हें इस विषय में कभी संशय नहीं होना चाहिये ॥ १६ ॥

स्वारस्यैकसुबोधचारुमनसे प्रौढानुभूतिस्त्वियं
दातव्या न तु मोहदुग्धकुधिये दुष्टान्तरङ्गाय च।
येयं रम्यविदर्पितोत्तमशिरःप्राप्ता चकास्ति स्वयं
सा चेन्मर्कटहस्तदेशपतिता किं राजते केतकी ॥१७॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्द-
भगवत्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छङ्करभगवतः
कृतौ प्रौढानुभूतिः समाप्ता

अटूट ज्ञान से शुद्ध चित्तवाले शिष्य को प्रौढानुभूति का उपदेश देना चाहिये। मोह से कलुषितबुद्धि और मलिन-अन्तःकरणवाले के लिए इसका उपदेश नहीं करना चाहिये। सौन्दर्य के पक्षपाती पुरुष से देवता आदि के शिर पर चढ़ाई गई केतकी की जो शोभा होती है, क्या बन्दर के हाथ में पड़ने पर भी उसकी वैसी ही शोभा हो सकती है! ॥ १७ ॥




लघुवाक्यवृत्तिः

॥ श्रीः ॥

॥ लघुवाक्यवृत्तिः ॥

स्थूलो मांसमयो देहः सूक्ष्मः स्याद्वासनामयः ॥
ज्ञानकर्मेन्द्रियैः सार्धं धीप्राणौ तच्छरीरगौ ॥ १ ॥

शरीर दो हैं—स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल शरीर मांसमय है और सूक्ष्म है वासनामय। सूक्ष्म शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रियों के साथ बुद्धि और प्राण रहते हैं ॥ १ ॥

अज्ञानं कारणं साक्षी बोधस्तेषां विभासकः ॥
बोधाभासो बुद्धिगतः कर्ता स्यात्पुण्यपापयोः ॥ २ ॥

सुषुप्ति अवस्था में अनुभूयमान अज्ञान कारण शरीर है। ज्ञान पूर्वोक्त इन तीनों शरीरों का साक्षी एवं प्रकाशक है। बुद्धि में रहनेवाला बोधाभास (ज्ञान का प्रतिबिम्ब) पुण्य और पाप का कर्ता है ॥ २ ॥

स एव संसरेत्कर्मवशाल्लोकद्वये सदा ॥
बोधाभासाच्छुद्धबोधं विविच्यादतियत्नतः ॥ ३ ॥

वह बोधाभास ही कर्मवश से इस लोक तथा परलोक में आवागमन करता है। इसलिए बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि बोधाभास से शुद्ध बोध (ज्ञान) को पृथक् कर ले।

जागरस्वप्नयोरेव बोधाभासविडम्बना ॥
सुप्तौ तु तल्लये बोधः शुद्धो जाड्यं प्रकाशयेत् ॥४॥

जागरण और स्वप्न में ही बोधाभास का अभिनय होता है। सुषुप्ति में, जब कि बोधाभास का लय हो जाता है, तब शुद्ध बोध ही अज्ञान का प्रकाश करता है ॥ ४ ॥

जागरेऽपि धियस्तूष्णींभावः शुद्धेन भास्यते ॥
धीव्यापाराश्च चिद्भास्याश्चिदाभासेन संयुताः ॥५॥

जागरण में बुद्धि के तूष्णींभाव का प्रकाश शुद्ध बोध ही करता है। चिद् आभास के साथ बुद्धि के सारे व्यापार शुद्ध बोध ही से प्रकाशित होते हैं ॥ ५ ॥

वह्नितप्तजलं तापयुक्तं देहस्य तापकम् ॥
चिद्भास्या धीस्तदाभासयुक्तान्यं भासयेत्तथा ॥६॥

जैसे आग के संयोग से गरम हुआ जल आग के ही ताप से देह को तपाता है, क्योंकि औष्ण्य जल का स्वाभाविक गुण नहीं है, वह आग के सम्पर्क से उसे मिला है, उसी प्रकार चिति से ही प्रकाशित होनेवाली बुद्धि भी चिति के प्रकाश से सारे जगत् को प्रकाशित करती है, उसमें स्वयं प्रकाश करने का सामर्थ्य नहीं है ॥ ६ ॥

रूपादौ गुणदोषादिविकल्पा बुद्धिगाः क्रियाः ॥
ताः क्रिया विषयैः सार्धं भासयन्ती चितिर्मता ॥७॥

रूप आदि विषयों में गुण दोष आदि का विकल्प—यह अच्छा है, यह बुरा है, ऐसी कल्पना—करना बुद्धि का काम है, परन्तु रूप आदि विषयों के साथ उसके कामों का प्रकाश करनेवाली चिति ही है ॥ ७ ॥

रूपाच्च गुणदोषाभ्यां विविक्ता केवला चितिः ॥
सैवानुवर्तते रूपरसादीनां विकल्पने ॥८॥

चिति, रूप आदि विषयों से एवं उनके गुण दोषों से भिन्न है, रूप रस आदि के विकल्प (रूप को छोड़कर रस तक जाने) में केवल चिति ही अनुसरण करती है, विषय और गुण-दोष अनुसरण नहीं करते ॥ ८ ॥

क्षणे क्षणेऽन्यथाभूता धीविकल्पाश्चितिर्न तु ॥
मुक्तासु सूत्रवद्बुद्धिविकल्पेषु चितिस्तथा ॥९॥

बुद्धि के विकल्प प्रतिक्षण बदलते रहते हैं, पर चिति कभी नहीं बदलती। जैसे मोतियों की माला में तागा पिरोया रहता है, ठीक वैसे ही बुद्धियों की वृत्ति में चिति अनुस्यूत है ॥ ९ ॥

मुक्ताभिरावृतं सूत्रं मुक्तयोर्मध्य ईक्ष्यते ॥
तथा वृत्तिविकल्पैश्चित्स्पष्टा मध्ये विकल्पयोः॥१०॥

मोतियों से ढका हुआ तागा मोतियों के बीच में देखा जाता है, वैसे ही बुद्धि के विकल्पों से घिरी हुई चिति स्पष्ट ही दो विकल्पों के बीच में रहती है ॥ १० ॥

नष्टे पूर्वविकल्पे तु यावदन्यस्य नोदयः ॥
निर्विकल्पकचैतन्यं स्पष्टं तावद्विभासते ॥११॥

पहले विकल्प के नष्ट हो जाने पर जब तक दूसरा विकल्प उत्पन्न नहीं होता तब तक निर्विकल्पक चैतन्य साफ भासता है ॥ ११ ॥

एकद्वित्रिक्षणेष्वेवं विकल्पस्य निरोधनम् ॥
क्रमेणाभ्यस्यतां यत्नाद् ब्रह्मानुभवकांक्षिभिः ॥१२॥

ब्रह्म-ज्ञान की अभिलाषा करनेवाले पुरुष पहिले इस प्रकार एक, दो, तीन क्षणों तक विकल्प का निरोध कर क्रमशः सावधानी से विकल्प के निरोध का अभ्यास बढ़ावें ॥ १२ ॥

सविकल्पकजीवोऽयं ब्रह्म तन्निर्विकल्पकम् ॥
अहं ब्रह्मेति वाक्येन सोऽयमर्थोऽभिधीयते ॥१३॥

जीव सविकल्पक है, ब्रह्म निर्विकल्पक, 'अहं ब्रह्मास्मि' यह महावाक्य इसी अर्थ का प्रतिपादन कर रहा है ॥ १३ ॥

सविकल्पकचिद्योऽहं ब्रह्मैकं निर्विकल्पकम् ॥
स्वतःसिद्धा विकल्पास्ते निरोधव्याः प्रयत्नतः॥१४॥

जो सविकल्पक चिति है वह अहं-पदार्थ (जीव) है, निर्विकल्पक चिति ब्रह्म है, विकल्पों का प्रवाह स्वतः सिद्ध है उसे यत्नपूर्वक रोकना चाहिये ॥ १४ ॥

शक्यः सर्वनिरोधेन समाधिर्योगिनां प्रियः ॥
तदशक्तौ क्षणं रुद्ध्वा श्रद्धालुर्ब्रह्मतां स्वकाम् ॥१५॥

योगियों की परम प्रिय समाधि सब विकल्पों के निरोध से ही हो सकती है, यदि सब विकल्पों का निरोध सदा के लिए नहीं कर सके तो भी एक क्षण भर के लिए रोककर श्रद्धालु पुरुष अपनी ब्रह्मता का निश्चय करे ॥ १५ ॥

श्रद्धालुर्ब्रह्मतां स्वस्य चिन्तयेद् बुद्धिवृत्तिभिः ॥
वाक्यवृत्त्या यथाशक्ति ज्ञात्वाऽद्धाभ्यस्यतां सदा॥१६॥

श्रद्धालु पुरुष बुद्धि वृत्तियों से अपनी ब्रह्मता का चिन्तन करे, इस वाक्यवृत्ति नामक ग्रन्थ के द्वारा उसका यथाशक्ति ज्ञान प्राप्त कर सदा अभ्यास करे ॥ १६ ॥

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ॥
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥ १७ ॥

ब्रह्म का ही चिन्तन, ब्रह्म का ही कथन, परस्पर ब्रह्म का ही प्रबोधन करना एवं एकमात्र ब्रह्म-परायण होना ही ब्रह्माभ्यास कहा गया है ॥ १७ ॥

देहात्मधीवद्ब्रह्मात्मधीदार्ढ्ये कृतकृत्यता ॥
यदा तदायं म्रियतां मुक्तोऽसौ नात्र संशयः ॥१८॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्द-
भगवत्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छङ्करभगवतः
कृतौ लघुवाक्यवृत्तिः सम्पूर्णा

देह में जैसी दृढ़ आत्मबुद्धि है, वैसी आत्मबुद्धि यदि ब्रह्म में हो जाय तो कृतकार्यता प्राप्त हो गई। कर्तव्यों की इतिश्री हो गई। संसार में जो सबसे बड़ा कार्य है, जो सब सुकर्मों का फल है, वह है ब्रह्म में आत्मबुद्धि की दृढ़ता होना। वह जिस पुरुष-पुङ्गव को प्राप्त हो गई उसके लिए अब कुछ कर्त्तव्य शेष नहीं रहा। वह चाहे जब मरे, निस्सन्देह मुक्त ही है।





तत्त्वोपदेशः

॥ श्रीः ॥

॥ तत्त्वोपदेशः ॥

तत्त्वंपदार्थशुद्ध्यर्थं गुरुः शिष्यं वचोऽब्रवीत् ॥
वाक्ये तत्त्वमसीत्यत्र त्वंपदार्थं विवेचय ॥ १ ॥

'तत्' पदार्थ और 'त्वम्' पदार्थ के निश्चय के लिए गुरु ने शिष्य से कहा—हे वत्स ! 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में पहिले 'त्वम्' पदार्थ का विचार करो ॥ १ ॥

न त्वं देहोऽसि दृश्यत्वाद्रूपजात्यादिमत्त्वतः ॥
भौतिकत्वादशुद्धत्वादनित्यत्वात्तथैव च ॥२॥

तुम देह नहीं हो, क्योंकि देह दृश्य है, रूपवान् एवं ब्राह्मणत्व आदि जातिमान् है, भौतिक (भूत-कार्य) है, अशुद्ध है और अनित्य है ॥ २ ॥

अदृश्यो रूपहीनस्त्वं जातिहीनोप्यभौतिकः ॥
शुद्धनित्योऽसि दृग्रूपो घटो यद्वन्न दृग्भवेत् ॥३॥

तुम अदृश्य हो, रूप-रहित एवं जाति-रहित हो, अभौतिक हो, शुद्ध हो, नित्य हो, ज्ञान रूप हो। जैसे घट का ज्ञान घट नहीं है, किन्तु घट से पृथक् है, उसी प्रकार तुम देह के ज्ञान हो, देह नहीं हो ॥ ३ ॥

न भवानिन्द्रियाण्येषां करणत्वेन या श्रुतिः ॥
प्रेरकस्त्वं पृथक् तेभ्यो न कर्ता करणं भवेत् ॥४॥

तुम इन्द्रिय रूप नहीं हो, क्योंकि श्रुति ने इन्द्रियाँ ज्ञान-करण वतलाई हैं, तुम तो इन्द्रियों के प्रेरक (प्रेरणा-कर्ता) हो, अतः इन्द्रियों से पृथक् हो, क्योंकि कर्ता करण नहीं होता ॥ ४ ॥

नानैतान्येकरूपस्त्वं भिन्नस्तेभ्यो कुतः शृणु ॥
न चैकेन्द्रियरूपस्त्वं सर्वत्राहं प्रतीतितः ॥५॥

ये इन्द्रियाँ अनेक हैं, तुम एक हो, हे सौम्य ! तुम इन्द्रियों से विलक्षण कैसे हो ? इस बात को सुनो—तुम एक इन्द्रिय रूप तो हो ही नहीं, क्योंकि मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, इस प्रकार सब इन्द्रियों में आत्मबुद्धि होती है। यदि एक इन्द्रिय आत्मा होती तो अन्य इन्द्रियों में अहंबुद्धि न होती ॥ ५ ॥

न तेषां समुदायोऽसि तेषामन्यतमस्य च ॥
विनाशेऽप्यात्मधीस्तावदस्ति स्यान्नैवमन्यथा ॥६॥

तुम इन्द्रिय-समुदाय रूप भी नहीं हो, क्योंकि उनमें से एक का नाश होने पर भी आत्मबुद्धि वनी ही रहती है। अन्यथा एक का नाश हो जाने पर समुदाय का नाश हो जाने से आत्मबुद्धि नहीं होनी चाहिये पर ऐसा होता नहीं, आँखों के बेकार हो जाने पर भी कान आदि अन्यान्य इन्द्रियों में आत्मबुद्धि ज्यों की त्यों बनी रहती है ॥ ६ ॥

प्रत्येकमपि तान्यात्मा नैव तत्र नयं शृणु ॥
नानास्वामिकदेहोऽयं नश्येद्भिन्नमताश्रयः ॥७॥

प्रत्येक इन्द्रिय भी आत्मा नहीं है, इस विषय में एक युक्ति सुनो—लोक में प्रसिद्ध है कि जिस पुरुष के अनेक स्वामी होते हैं, वह नष्ट हो जाता है, क्योंकि एक ही काल में सव उसे विभिन्न आदेश देंगे, पहिले तो इसी वात पर उसे असमञ्जस हो जायगा कि—किसका आदेश पहिले करूँ और किसका पीछे? मान लीजिये, इस विषय में उसने किसी प्रकार सफलता पा भी ली, तो जिसका कार्य वह पीछे करेगा वह उसके लिए अवश्य क्रुद्ध होगा और सम्भव है मार डाले। ठीक यही अवस्था अनेक स्वामीवाले शरीर की भी हो जायगी ॥ ७ ॥

नानात्माभिमतं नैव विरुद्धविषयत्वतः ॥
स्वाम्यैक्ये तु व्यवस्था स्यादेकपार्थिवदेशवत् ॥८॥

आँख-कान आदि इंद्रियों के विषय भिन्न भिन्न हैं इसलिए पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार उनमें (इन्द्रियों में) भी किसी का मनोरथ पूर्ण नहीं होगा, क्योंकि नेत्र देह को सुन्दर रूप की ओर आकर्षित करेंगे तो नासिका सुगन्ध की ओर, कान सुमधुर गीत की ओर, रसना स्वादु रस की ओर—ऐसी अवस्था में वेचारा शरीर लाचार होकर किसी का भी अभिलाष पूरा नहीं कर सकेगा। एक स्वामी होने से तो एक राजावाले देश की भाँति व्यवस्था हो सकती है ॥ ८ ॥

न मनस्त्वं न वा प्राणो जडत्वादेव चैतयोः ॥
गतमन्यत्र मे चित्तमित्यन्यत्वानुभूतितः ॥९॥

न तुम मन हो, न प्राण हो, क्योंकि ये दोनों (मन और प्राण) जड़ हैं; 'मेरा मन अन्यत्र चला गया था' इस प्रकार भेद का भी अनुभव होता है ॥ ९ ॥

क्षुत्तृड्भ्यां पीडितः प्राणो ममायं चेति भेदतः ॥
तयोर्द्रष्टा पृथक् ताभ्यां घटद्रष्टा घटाद्यथा ॥ १० ॥

प्राण क्षुधा और पिपासा से पीड़ित होता है, परन्तु तुम इन दोनों से रहित हो। 'मेरा प्राण' इस व्यवहार से भेद भी प्रतीत होता है, तुम इन दोनों के साक्षी हो और दोनों से वैसे ही पृथक् हो, जैसे घट का साक्षी घट से ॥ १० ॥

सुप्तौ लीनास्ति या बोधे सर्वं व्याप्नोति देहकम् ॥
चिच्छायया च सम्बद्धा न सा बुद्धिर्भवान् द्विज ॥११॥

हे सौम्य! सुषुप्ति-अवस्था में जो अज्ञान में लीन हो जाती है और जाग्रत्काल में सारे शरीर में व्याप्त रहती है, जिसमें चेतन की छाया (प्रतिबिम्ब) पड़ती है, वह बुद्धि भी तुम नहीं हो ॥ ११ ॥

नानारूपवती बोधे सुप्तौ लीनातिचञ्चला ॥
यतो दृगेकरूपस्त्वं पृथक् तस्य प्रकाशकः ॥ १२ ॥

क्योंकि बुद्धि जाग्रत्काल में घट-पट आदि अनेक रूपों को धारण करती है, सुषुप्ति में लीन हो जाती है, और अति चञ्चल है, तुम तो केवल ज्ञान रूप हो, बुद्धि के प्रकाशक हो, अतः बुद्धि से भिन्न हो ॥ १२ ॥

सुप्तौ देहाद्यभावेऽपि साक्षी तेषां भवान् यतः ॥
स्वानुभूतिस्वरूपत्वान्नान्यस्तस्यास्ति भासकः॥१३॥

सुषुप्ति अवस्था में, जब कि देह आदि का अभाव रहता है तब भी उनके साक्षी तुम हो, स्वयं अनुभव रूप होने से तुम्हारा कोई प्रकाशक नहीं है ॥ १३ ॥

प्रमाणं बोधयन्तं तं बोधं मानेन ये जनाः ॥
बुभुत्सन्ते त एधोभिर्दग्धुं वाञ्छन्ति पावकम् ॥१४॥

इन्द्रिय लिङ्ग आदि सब प्रमाणों का ज्ञान करानेवाले ज्ञान रूप आत्मा को जो प्रमाणों से जानना चाहते हैं, वे लकड़ियों से अग्नि को जलाना चाहते हैं ॥ १४ ॥

विश्वमात्मानुभवति तेनासौ नानुभूयते ॥
विश्वं प्रकाशयत्यात्मा तेनासौ न प्रकाश्यते ॥१५॥

आत्मा विश्व का अनुभव करता है, विश्व से आत्मा का अनुभव नहीं हो सकता; आत्मा विश्व का प्रकाश करता है, विश्व से आत्मा का प्रकाश नहीं हो सकता ॥ १५ ॥

ईदृशं तादृशं नैतन्न परोक्षं सदेव यत् ॥
तद्ब्रह्मत्वं न देहादिदृश्यरूपोऽसि सर्वदृक् ॥१६॥

वह न ऐसा है, न वैसा है, न परोक्ष है, वह तो सत् (अपरोक्ष) ही है, अर्थात् जो इन्द्रियों का विषय होता है, उसे 'ऐसा' कहते हैं, आत्मा किसी भी इन्द्रिय का विषय नहीं है, इसलिए उसे 'ऐसा' नहीं कह सकते। जो परोक्ष होता है, उसे 'वैसा' कहते हैं, आत्मा तो अहं प्रतीति से नित्य अपरोक्ष है, इसलिए 'वैसा' भी नहीं कह सकते। वही ब्रह्म तुम हो, देह आदि दृश्य रूप तुम नहीं हो, क्योंकि तुम सबके साक्षी हो, तुम्हारा साक्षी कोई नहीं है ॥ १६ ॥

इदन्त्वेनैव यद्भाति सर्वं तच्च निषिध्यते ॥
अवाच्यतत्त्वमनिदं न वेद्यं स्वप्रकाशतः ॥ १७ ॥

जो जो वस्तुएँ इदं रूप से प्रतीत होती हैं उन सबका श्रुति ने निषेध किया है, जो 'इदं' इत्याकारक प्रतीति का विषय नहीं है,

किसी शब्द का वाच्य नहीं है, वह आत्मा स्वयं प्रकाश होने से किसी से भी वेद्य (प्रकाश्य) नहीं है ॥ १७ ॥

सत्यं ज्ञानमनन्तञ्च ब्रह्मलक्षणमुच्यते ॥
सत्यत्वाज् ज्ञानरूपत्वादनन्तत्वात्त्वमेव हि ॥ १८ ॥

सत्य, ज्ञान और अनन्त, यह ब्रह्म का लक्षण कहा जाता है, तुम सत्य हो, ज्ञान हो, अनन्त हो, अतः तुम ब्रह्म हो ॥ १८ ॥

सति देहाद्युपाधौ स्याज्जीवस्तस्य नियामकः ॥
ईश्वरः शक्त्युपाधित्वाद् द्वयोर्बाधे स्वयंप्रभः ॥ १९ ॥

देह आदि उपाधि की दृष्टि से वही ब्रह्म जीव है, माया रूप उपाधि से वही जीव का नियामक—ईश्वर है, ज्ञान से दोनों उपाधियों का बाध होने से वह स्वयं प्रकाश है ॥ १९ ॥

अपेक्ष्यतेऽखिलैर्मानैर्न यन्मानमपेक्षते ॥
वेदवाक्यं प्रमाणं तद् ब्रह्मात्मावगतौ मतम् ॥२०॥

अन्य सब प्रमाण जिसकी अपेक्षा करते हैं और जो किसी भी प्रमाण की अपेक्षा नहीं करता, वह वेद-वाक्य—हमारा प्रत्यगात्मा ही ब्रह्म है, इस ज्ञान में—प्रमाण है ॥ २० ॥

अतोहि तत्त्वमस्यादिवेदवाक्यं प्रमाणतः ॥
ब्रह्मणोऽस्ति यया युक्त्या सास्माभिः संप्रकीर्त्यते॥२१॥

इसलिए 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य जिस युक्ति से ब्रह्म में प्रमाण हैं, वह युक्ति कही जाती है ॥ २१ ॥

शोधिते त्वंपदार्थे हि तत्त्वमस्यादि चिन्तितम् ॥
सम्भवेन्नान्यथा तस्माच्छोधनं कृतमादितः ॥ २२ ॥

त्वं पदार्थ को शुद्ध कर लेने पर 'तत्त्वमसि' आदि विचार हो सकता है, विना शोधन के नहीं हो सकता, इसलिए पहिले 'त्वम्' पदार्थ का शोधन किया जाता है ॥ २२ ॥

देहेन्द्रियादिधर्मान्यः स्वात्मन्यारोपयन्मृषा ॥
कर्तृत्वाद्यभिमानी च वाच्यार्थस्त्वंपदस्य सः ॥२३॥

जो स्थूलत्व, कृशत्व आदि देह-धर्मों का और इन्द्रियों के काणत्व-वधिरत्व आदि धर्मों का अपने में मिथ्या आरोप करके अपने को कर्ता और भोक्ता मानता है, वह 'त्वं' पद का वाच्य अर्थ है ॥ २३ ॥

देहेन्द्रियादिसाक्षी यस्तेभ्यो भाति विलक्षणः ॥
स्वयं बोधस्वरूपत्वाल्लक्ष्यार्थस्त्वंपदस्य सः ॥२४॥

जो स्वयं ज्ञानस्वरूप होने से देह और इन्द्रियों से विलक्षण एवं देह और इन्द्रियों का साक्षी है, वह 'त्वम्' पद का लक्ष्य अर्थ है ॥ २४ ॥

वेदान्त-वाक्य-संवेद्य-विश्वातीताक्षराद्वयम् ॥
विशुद्धं यत्स्वसंवेद्यं लक्ष्यार्थस्तत्पदस्य सः ॥२५॥

वेदान्त-वाक्यों से जानने योग्य, विश्व से अतीत, अविनाशी, अद्वितीय शुद्ध एवं स्वसंवेद्य (स्वयंप्रकाश) जो तत्त्व है, वह तत्पद का लक्ष्य अर्थ है ॥ २५ ॥

सामानाधिकरण्यं हि पदयोस्तत्त्वमोर्द्वयोः ॥
सम्बन्धस्तेन वेदान्तैर्ब्रह्मैक्यं प्रतिपाद्यते ॥ २६ ॥

तत् और त्वं इन दोनों पदों का सामानाधिकरण्य (एकार्थवाचकता) सम्बन्ध है, उक्त संवंध से वेदान्ती लोग ब्रह्म एवं जीव की एकता का प्रतिपादन करते हैं ॥ २६ ॥

भिन्नप्रवृत्तिहेतुत्वे पदयोरेकवस्तुनि ॥
वृत्तित्वं यत्तथैवैक्यं विभक्त्यन्तकयोस्तयोः ॥ २७ ॥
सामानाधिकरण्यं तत्सम्प्रदायिभिरीरितम् ॥
तथा पदार्थयोरेव विशेषणविशेष्यता ॥ २८ ॥

प्रवृत्ति का निमित्त (वाच्यतावच्छेदक) भिन्न होने पर भी जैसे दो पदों की एक अर्थ में वृत्ति (बोध्यता) अथवा एक विभक्त्यन्त दो पदों की एक अर्थ में वृत्ति (बोध्यता) होती है, वैसे ही दोनों पदार्थों का विशेषण-विशेष्य-भाव होता है, साम्प्रदायिक उसको सामानाधिकरण्य कहते हैं ॥ २७—२८ ॥

अयं सः सोऽयमितिवत् सम्बन्धो भवति द्वयोः ॥
प्रत्यक्त्वं सद्वितीयत्वं परोक्षत्वं च पूर्णता ॥ २९ ॥
परस्परविरुद्धं स्यात्ततो भवति लक्षणा ॥
लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनोः ॥ ३० ॥

यह वह है, वह यह है, यह दो पदार्थों के सामानाधिकरण्य का उदाहरण है। 'अयम्' पद का प्रवृत्ति निमित्त प्रत्यक्षत्व तथा 'सः' पद का प्रवृत्तिनिमित्त परोक्षत्व है, इस तरह भिन्न प्रवृत्तिनिमित्त होते हुए भी 'अयं सः' इन दोनों पदों की एक ही ब्राह्मण पिण्ड में वृत्ति (बोध्यता) होने से इन दोनों पदों का सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है; 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में 'त्वम्' पद का प्रवृत्तिनिमित्त प्रत्यक्त्व (अपरोक्षत्व) एवं स-द्वितीयत्व है, 'तत्' पद का प्रवृत्ति-निमित्त परोक्षत्व एवं परिपूर्णत्व है। ये परस्पर विरुद्ध हैं, इसलिए यहाँ पर लक्षणा होती है; पदार्थ और प्रत्यगात्मा का लक्ष्य लक्षण भाव सम्बन्ध है ॥ २९—३० ॥

मानान्तरोपरोधाच्च मुख्यार्थस्यापरिग्रहे ॥
मुख्यार्थस्याविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणोच्यते ॥३१॥

जहाँ पर प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाणों के विरोध से शब्द मुख्य अर्थ का बोध न करा सके, उस स्थल में उसकी मुख्य अर्थ के सम्बन्धी अमुख्य अर्थ में प्रवृत्ति होती है। वही लक्षणा कही जाती है। अर्थात् जिस व्यापार के द्वारा शब्द अमुख्य अर्थ का बोध कराता है, उसे लक्षणा कहते हैं ॥ ३१ ॥

त्रिविधा लक्षणा ज्ञेया जहत्यजहती तथा ॥
अन्योभयात्मिका ज्ञेया तत्राद्या नैव सम्भवेत् ॥३२॥

लक्षणा तीन प्रकार की होती है—जहती, अजहती और उभयात्मिका। इनमें पहिली—जहती लक्षणा की यहाँ सम्भावना नहीं है ॥ ३२ ॥

वाच्यार्थमखिलं त्यक्त्वा वृत्तिः स्याद्या तदन्विते ॥
गङ्गायां घोष इतिवज्जहती लक्षणा हि सा ॥३३॥
वाच्यार्थस्यैकदेशस्य प्रकृते त्याग इष्यते ॥
जहती संभवेन्नैव सम्प्रदायविरोधतः ॥३४॥

अपने वाच्य अर्थ का सर्वथा त्याग कर वाच्य अर्थ के सम्बन्धी में जो शब्द की वृत्ति, वह जहती लक्षणा कही जाती है। इस लक्षणा का उदाहरण—'गङ्गायां घोषः' है। यहाँ पर गङ्गा शब्द के वाच्य अर्थ (प्रवाह) में घोष (गोप-ग्राम) की आधारता बाधित है, क्योंकि प्रवाह में ग्राम की स्थिति असम्भव है। इसलिए 'गङ्गा' शब्द अपने वाच्य अर्थ (प्रवाह) के सम्बन्धी* तीर को बोधित करता है, अतः

*प्रवाह रूप वाच्य अर्थ का तीर रूप लक्ष्य अर्थ के साथ सामीप्य सम्बन्ध है।

यह लक्षणा जहती हुई। प्रस्तुत 'तत्त्वमसि' वाक्य में वाच्य अर्थ के एक देश का त्याग इष्ट है, न कि समस्त वाच्य अर्थ का, अतः यह जहती लक्षणा का लक्ष्य नहीं हो सकता। इसमें सम्प्रदाय का भी विरोध* है॥ ३३—३४॥

वाच्यार्थमपरित्यज्य वृत्तिरन्यार्थके तु या॥
कथितेयमजहती शोणोऽयं धावतीतिवत्॥३५॥

वाच्य अर्थ का त्याग न कर वाच्य अर्थ के सम्बन्धी में जो शब्द की वृत्ति, वह अजहती लक्षणा कही जाती है। इसका उदाहरण 'शोणो धावति' है। यहाँ शोण शब्द का वाच्य है—रक्त वर्ण, वह गुण है, उसमें धावन क्रिया सब प्रमाणों से विरुद्ध है, इसलिए वाच्य अर्थ जो रक्त वर्ण—उसका त्याग न कर उसके सम्बन्धी अश्व में शोण शब्द की जो वृत्ति, वह अजहती लक्षणा है॥ ३५॥

न सम्भवति साप्यत्र वाच्यार्थेऽतिविरोधतः॥
विरोधांशपरित्यागो दृश्यते प्रकृते यतः॥३६॥

वाच्य अर्थ के रहने पर अति विरोध† होने से 'तत्त्वमसि' वाक्य में अजहती लक्षणा भी नहीं हो सकती, क्योंकि प्रकृत श्रुति-वाक्य में विरुद्ध अंशों का त्याग देखा जाता है॥ ३६॥

---

* यदि 'तत्त्वमसि' श्रुति-वाक्य जहती लक्षणा का लक्ष्य मान लिया जाय, तो अद्वैत सम्प्रदाय से बड़ा विरोध होगा क्योंकि उक्त सम्प्रदाय के अनुसार ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ है ही नहीं। ऐसी दशा में यदि 'तत्' और 'त्वं' पद के क्रमशः सर्वज्ञत्व-विशिष्ट ब्रह्म तथा प्रत्यक्त्व-विशिष्ट ब्रह्म रूप वाच्य अर्थ का जहती लक्षणा के लक्षण के अनुसार सर्वथा त्याग कर दिया जाय, तो फिर बचा ही कौन अर्थ? जिसका कि जहती लक्षणा बोध करावे।

† तात्पर्य यह कि जहती लक्षणा में केवल वाच्य अर्थ ही ज्यों का त्यों नहीं बना रहता, प्रत्युत वह अपनी निष्पत्ति के लिए अर्थान्तर का भी आश्रय लेता

वाच्यार्थस्यैकदेशं च परित्यज्यैकदेशकम् ॥
या बोधयति सा ज्ञेया तृतीया भागलक्षणा ॥३७॥

वाच्य अर्थ के एक देश का त्याग कर दूसरे एक देश का जो बोध कराती है, वह भागत्याग (जहदजहती) लक्षणा कही जाती है ॥ ३७ ॥

सोऽयं विप्र इदं वाक्यं बोधयत्यादितस्तथा ॥
तत्कालत्वविशिष्टञ्च तथैतत्कालसंयुतम् ॥३८॥
अतस्तयोर्विरुद्धं तत्कालत्वादिधर्मकम् ॥
त्यक्त्वा वाक्यं यथा विप्रपिण्डं बोधयतीरितम् ॥३९॥

'सोऽयं विप्रः' इस वाक्य में 'सः' पद भूतकाल-विशिष्ट ब्राह्मण का बोध कराता है और 'अयं' पद वर्तमानकाल-विशिष्ट ब्राह्मण का; इसलिए परस्पर विरुद्ध अंश—भूतकाल और वर्तमानकाल का त्यागकर 'सोऽयं विप्रः' यह वाक्य ब्राह्मण के शरीर-मात्र का बोध कराता है, जैसा कि कहा गया है ॥ ३८—३९ ॥

तथैव प्रकृते तत्त्वमसीत्यत्र श्रुतौ शृणु ॥
प्रत्यक्त्वादीन् परित्यज्य जीवधर्मांस्त्वमः पदान् ४०

है। जैसा कि—'शोणो धावति' वाक्य में दिखलाया जा चुका है। प्रस्तुत श्रुति-वाक्य के 'तत्' पद और 'त्वम्' पद का क्रमशः वाच्य अर्थ है—परोक्षत्व आदि विशिष्ट ब्रह्म और प्रत्यक्त्व आदि विशिष्ट ब्रह्म। दोनों पदों के केवल वाच्यार्थ में ही विरोध काफ़ी है, क्योंकि परोक्षत्व और प्रत्यक्त्व आदि विरुद्ध धर्म दोनों दलों में विद्यमान हैं। इसी विरोध को हटाकर दोनों में एकता स्थापित करने के लिए लक्षणा का आश्रय किया गया है। यदि जहती लक्षणा के लक्षण के अनुसार वाच्य अर्थ में अन्य अर्थ का मिश्रण किया जाय, तो अति विरोध में सन्देह ही क्या है ?

सर्वज्ञत्वपरोक्षादीन् परित्यज्य ततः पदात् ॥
शुद्धं कूटस्थमद्वैतं बोधयत्यादरात्परम् ॥४१॥

वैसे ही प्रकृत (तत्त्वमसि) श्रुति-वाक्य में भी जानो, यहाँ पर प्रत्यक्त्व (अपरोक्षत्व) आदि जीव-धर्मों का त्वं पद से त्यागकर और सर्वज्ञत्व-परोक्षत्व आदि ईश्वर-धर्मों का तत् पद से त्यागकर श्रुति शुद्ध, कूटस्थ एवं अद्वितीय परब्रह्म का आदर से बोध कराती है ॥४०—४१॥

तत्त्वमोः पदयोरैक्यमेव तत्त्वमसीत्यलम् ॥
इत्थमैक्यावबोधेन सम्यग्ज्ञानं दृढं नयैः ॥४२॥

'तत् त्वम्' पदार्थों की एकता का ही 'तत्त्वमसि' वाक्य बोध कराता है, इस प्रकार एकता का ज्ञान हो जाने पर फिर "अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा" इत्यादि न्यायों से वह भली भाँति दृढ़ हो जाता है ॥४२॥

अहं ब्रह्मेति विज्ञानं यस्य शोकं तरत्यसौ ॥
आत्मा प्रकाशमानोऽपि महावाक्यैस्तथैकता ॥४३॥
तत्त्वमोर्बोध्यतेऽथापि पौर्वापर्यानुसारतः ॥
तथापि शक्यते नैव श्रीगुरोः करुणां विना ॥४४॥
अपरोक्षयितुं लोके मूढैः पण्डितमानिभिः ॥
अन्तःकरणसंशुद्धौ स्वयं ज्ञानं प्रकाशते ॥४५॥
वेदवाक्यैरतः किं स्याद् गुरुणेति न साम्प्रतम् ॥
आचार्यवान् पुरुषो हि वेदेत्येवं श्रुतिर्जगौ ॥ ४६ ॥

जिस पुरुष को 'अहं ब्रह्म' यह ज्ञान हो जाता है, वह शोक-सागर को तैर जाता है। अहंबुद्धि से यद्यपि आत्मा सबको प्रकाश-मान है, पूर्वापर-पर्यालोच से महावाक्य तत् और त्वम् पदों की एकता भी बतलाते हैं, तथापि श्रीगुरु की करुणा के विना लोक में पण्डित

होने का अभिमान रखनेवाले मूर्खों से जीव तथा ब्रह्म की एकता नहीं जानी जा सकती। अन्त:करण की शुद्धि होने से वेद-वाक्यों के द्वारा स्वयं ही ज्ञान हो सकता है, गुरु का कुछ प्रयोजन नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि श्रुति स्वयं कहती है—"आचार्यवान् पुरुष ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है" ॥ ४३—४६ ॥

अनादाविह संसारे बोधको गुरुरेव हि ॥
अतो ब्रह्मात्मवस्त्वैक्यं ज्ञात्वा दृश्यमसत्तया ॥४७॥
अद्वैते ब्रह्मणि स्थेयं प्रत्यगब्रह्मात्मना सदा ॥
तत्प्रत्यक्षात् परित्यागमद्वैतब्रह्मचिद्घनम् ॥ ४८ ॥

अनादि इस संसार में गुरु ही बोधक (ज्ञान देनेवाला) है, अत: जीवात्मा और ब्रह्म की एकता जानकर, दृश्य जगत् की असत्ता का निश्चय करके मैं ही ब्रह्म हूँ ऐसी भावना से सदा अद्वितीय ब्रह्म में स्थिति करनी चाहिए। आत्मा के प्रत्यक्ष से अद्वितीय चिद्घन ब्रह्म का प्रत्यक्ष हो जाता है ॥ ४७—४८ ॥

प्रतिपाद्यं तदेवात्र वेदान्तैर्न जडं द्वयम् ॥
सुखरूपं चिदद्वैतं दुःखरूपमसज्जडम् ॥ ४९ ॥

वेदान्ती लोग उस अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व का ही प्रतिपादन करते हैं, जड़ और द्वैत का प्रतिपादन नहीं करते। चिद्—अद्वितीय तथा सुख रूप है, असत्—जड़ एवं दुःख रूप है ॥ ४९ ॥

वेदान्तैस्तद्द्वयं सम्यङ् निर्णीतं वस्तुतो नयात् ॥
अद्वैतमेव सत्यं त्वं विद्धि द्वैतमसत्सदा ॥ ५० ॥

इन दोनों का निर्णय वेदान्तियों ने युक्तियों द्वारा किया है। हे सौम्य! तुम अद्वैत को ही सत्य समझो और द्वैत को असत्य जानो ॥५०॥

शुद्धे कथमशुद्धः स्याद्दृश्यं मायामयं ततः ॥
शुक्तौ रूप्यं मृषा यद्वत् तथा विश्वं परात्मनि ॥५१॥

शुद्ध में अशुद्ध कैसे रह सकता है ? यह दृश्य जगत् मायामय है, जैसे शुक्ति में रजत-प्रतीति भ्रम है, उसी प्रकार परमात्मा में विश्व-प्रतीति भी मिथ्या है ॥ ५१ ॥

विद्यते न स्वतः सत्वं नासतः सत्वमस्ति वा ॥
बाध्यत्वान्नैव सद्द्वैतं नासत् प्रत्यक्षभानतः ॥५२॥

इस दृश्य जगत् की स्वतः सत्ता नहीं है, तुम्हारी ही सत्ता इसमें प्रतीत हो रही है। यह दृश्य जगत् असत् है, असत् की सत्ता नहीं हुआ करती। नेति नेति इत्यादि वाक्यों से द्वैत का बाध होता है, इसलिए द्वैत सत् नहीं है और असत् भी नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष दिखाई देता है। असत्पदार्थों (शशशृङ्ग, वन्ध्यापुत्र आदि) का प्रत्यक्ष नहीं होता ॥ ५२ ॥

सदसन्न विरुद्धत्वादतो निर्वाच्यमेव तत् ॥
यः पूर्वमेक एवासीत्सृष्ट्वा पश्चादिदं जगत् ॥ ५३ ॥
प्रविष्टो जीवरूपेण स एवात्मा भवान् परः ॥
सच्चिदानन्द एव त्वं विस्मृत्यात्मतया परम् ॥५४॥
जीवभावमनुप्राप्तः स एवात्मासि बोधतः ॥
अद्वयानन्दचिन्मात्रः शुद्धः साम्राज्यमागतः ॥५५॥

परस्पर विरुद्ध होने से सत्-असत् रूप भी नहीं है, अतः वह अनिर्वचनीय ही है, जो पहिले एक (अद्वितीय) सत् ही था, वही जगत् की सृष्टि करके पश्चात् जीव रूप से उसमें प्रविष्ट हो गया है, इसलिए तुम वही परमात्मा हो। तुम सच्चिदानन्द ही हो,

उस परब्रह्म को भूल से आत्मा न समझकर जीवभाव को प्राप्त हुए हो। ज्ञान-दृष्टि से तुम वही परमात्मा हो। तुम अद्वयानन्द, शुद्ध, चिन्मात्र एवं सम्राट् हो, ज्ञान से साम्राज्य को प्राप्त हो गये हो ॥ ५३—५५ ॥

कर्तृत्वादीन् यान्यांसस्त्वयि ब्रह्माद्वये परे ॥
तानीदानीं विचार्य त्वं किंस्वरूपाणि वस्तुतः॥५६॥

तुम अद्वितीय ब्रह्म में जो तुम्हें पहिले कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि धर्म प्रतीत होते थे उनका अब विचार करो कि वास्तव में उनका क्या स्वरूप है ॥ ५६ ॥

अत्रैव शृणु वृत्तान्तमपूर्वं श्रुतिभाषितम् ॥
कश्चिद्गन्धारदेशीयो महारत्नविभूषितः ॥५७॥
स्वगृहे स्वाङ्गणे सुप्तः प्रमत्तः सन् कदाचन ॥
रात्रौ चौरः समागत्य भूषणानां प्रलोभतः ॥ ५८ ॥
बद्ध्वा देशान्तरं चौरैर्नीतः सन् गहने वने ॥
भूषणान्यपहृत्यापि बद्धाक्षकरपादकः ॥ ५९ ॥
निक्षिप्तो विपिनेऽतीवकुशकण्टकवृश्चिकैः ॥
व्यालव्याघ्रादिभिश्चैव सङ्कुले तरुसङ्कटे ॥ ६० ॥

इसी विषय में छान्दोग्य श्रुति का कहा हुआ अपूर्व इतिहास सुनो—गान्धार (कन्धार) देश-निवासी, महारत्नों से भूषित, एक पुरुष अपने घर के आँगन में मत्त होकर सोया था। रात्रि में चोर आया और वह आभूषणों के लोभ से उस पुरुष को बाँधकर दूसरे स्थान में, गहन वन में, ले गया। वहाँ उसके सब आभूषण चोरों ने उतार लिये और हाथ पाँव बाँधकर कुश, कास, विच्छू, साँप और

व्याघ्र आदि से अत्यन्त सङ्कुल, वृक्षों से परिपूर्ण, वन में उसे फेंक दिया ॥ ५७—६० ॥

व्यालादिदुष्टसत्वेभ्यो महारण्ये भयातुरः ॥
शिलाकण्टकदर्भाद्यैर्देहस्य प्रतिकूलकैः ॥ ६१ ॥
क्रियमाणे विलुठने विशीर्णाङ्गोऽसमर्थकः ॥
क्षुत्तृडातपवाय्वग्न्यादिभिस्तप्तोऽतितापकैः ॥६२॥
बन्धमुक्तौ तथा देशप्राप्तावेव सुदुःखधीः ॥
ददृशे कैश्चिदाक्रोशन्नेकस्तत्रैव तस्थिवान् ॥६३॥

महारण्य में सर्प-व्याघ्र आदि दुष्ट जीवों के भय से पीड़ित, शिला, काँटे और कुशों से देह के छिल जाने से जर्जरित, अतएव असमर्थ, अति दुःखदायी भूख-प्यास और शीत-उष्ण से संतप्त, बन्धन से मुक्त होने के लिए और अपने देश जाने के लिए अति व्याकुल एवं बैठे बैठे रोते और पुकारते हुए उसको कई बटोहियों ने देखा ॥ ६१—६३ ॥

तथा रोगादिभिर्वर्गैः शत्रुभिर्दुःखदायिभिः ॥
चौरैर्देहाभिमानाद्यैः स्वानन्दधनहारिभिः ॥६४॥
ब्रह्मानन्दे प्रमत्तः स्वाज्ञाननिद्रावशीकृतः ॥
बद्धस्त्वं बन्धनैर्भोगतृष्णाज्वरादिभिर्दृढम्* ॥६५॥
अद्वयानन्दरूपात्त्वां प्रच्याव्यातीवधूर्तकैः ॥
दूरनीतोऽसि देहेषु संसारारण्यभूमिषु ॥ ६६ ॥
सर्वदुःखनिदानेषु शरीरादित्रयेषु च ॥
नानायोनिषु कर्मान्धवासनानिर्मितासु च ॥६७॥

---

* बद्धस्त्वं बन्धनैर्बाढं भोगतृष्णाज्वरादिभिः (?)

प्रवेशितोऽसि सृष्टोऽसि बद्धः स्वानन्ददूषितः ॥
अनादिकालमारभ्य दुःखं चानुभवन्सदा ॥ ६८ ॥

गान्धार-निवासी की भाँति ब्रह्मानन्द में प्रमत्त (ब्रह्मानन्द की ओर कभी ध्यान न देते हुए) एवं आत्म-अज्ञानरूपी निद्रा के वशीभूत तुम भी दुःखदायी राग-द्वेष आदि शत्रुओं तथा आनन्द रूप धन को हरनेवाले देहाभिमान आदि चोरों के द्वारा भोगेच्छा-ज्वर आदि बन्धनों से दृढ़ बाँधे गये हो। इन धूर्तों ने तुम्हें अद्वयानन्द रूप ब्रह्म से गिराकर संसार-रूपी वन में, मनुष्य आदि के देह में दूर पटक दिया है। तुम समस्त दुःखों के कारण तीन (स्थूल, सूक्ष्म, एवं कारण) शरीरों में हठात् प्रविष्ट कराये गये हो, कर्म-वासना से निर्मित नाना योनियों में पटके गये हो, इसी को आत्मानन्द समझकर बद्ध हुए हो, अनादि काल से लेकर सदा दुःख का ही अनुभव कर रहे हो ॥ ६४—६८ ॥

जन्ममृत्युजरादोषनरकादिपरम्पराम् ॥
निरन्तरं विषण्णोऽनुभवन्नत्यन्तशोकवान् ॥ ६९ ॥
अविद्याभूतबन्धस्य निवृत्तौ दुःखदस्य च ॥
स्वरूपानन्दसम्प्राप्तौ सत्योपायं न लब्धवान् ॥ ७० ॥

जन्म-मृत्यु-जरा आदि दोष रूप नरक-परम्परा का निरन्तर भोग करते हुए अतएव अत्यन्त शोक से व्याकुल हुए तुमने दुःखदायी अविद्यारूपी बन्धन की निवृत्ति के लिए और स्वरूपानन्द की प्राप्ति के लिए सत्य उपाय का लाभ नहीं किया ॥ ६९—७० ॥

यथा गान्धारदेशीयश्चिरं दैवाद्दयालुभिः ॥
कैश्चित्पान्थैः परिप्राप्तैर्मुक्तदृष्ट्यादिबन्धनः ॥ ७१ ॥

सः स्वस्थैरुपदिष्टश्च पण्डितो निश्चितात्मकः ॥
ग्रामाद् ग्रामान्तरं गच्छन् मेधावी मार्गतत्परः॥७२॥
गत्वा गान्धारदेशं स स्वगृहं प्राप्य पूर्ववत् ॥
बान्धवैः संपरिष्वक्तः सुखी भूत्वा स्थितोऽभवत्॥७३॥

गान्धारवासी वह पुरुष, जिसका वृत्तान्त पहिले कहा जा चुका है, बहुत दिनों तक वहीं पड़ा रहा, अन्त में कुछ दयालु बटोही उसे मिले, उन्होंने उसके नेत्रों की पट्टियाँ एवं हाथों की हथकड़ियाँ खोल दीं; उसे गान्धार जानेवाला मार्ग बतलाया। वह पुरुष बुद्धिमान् था, उसे उनके बतलाए हुए मार्ग में विश्वास हो गया। उसी मार्ग के अनुसार एक ग्राम से दूसरे ग्राम में जाता हुआ वह गान्धार पहुँचा और अपने घर में जाकर अपने सगे-साथियों से गले मिला और फूला न समाया ॥ ७१—७३ ॥

त्वमप्येवमनेकेषु दुःखदायिषु जन्मसु ॥
भ्रान्तो दैवाच्छुभे मार्गे जातश्रद्धः सुकर्मकृत् ॥७४॥
वर्णाश्रमाचारपरोऽवाप्तपुण्यमहोदयः ॥
ईश्वरानुग्रहाल्लब्धो ब्रह्मविद् गुरुसत्तमः ॥७५॥
विधिवत्कृतसंन्यासो विवेकादियुतः सुधीः ॥
प्राप्तो ब्रह्मोपदेशोऽद्य वैराग्याभ्यासतः परम् ॥७६॥

उसी प्रकार तुम भी दुःखदायी अनेक जन्मों में घूमते हुए दैवयोग से शुभ मार्ग में श्रद्धालु होकर शुभ कर्मों में लगे हो, वर्णाश्रम धर्मों के परिपालन से तुम्हारे पुण्यों का उदय हुआ है और ईश्वर की कृपा से तुम्हें ब्रह्मज्ञ गुरु की प्राप्ति हुई है। तुमने विधिवत् संन्यास

धारण किया, विवेक-वैराग्य आदि के अभ्यास से आज तुम्हें ब्रह्म-विद्या प्राप्त हुई है ॥ ७४—७६ ॥

पण्डितस्तत्र मेधावी युक्त्या वस्तु विचारयन् ॥
निदिध्यासनसम्पन्नः प्राप्ता हि त्वं परं पदम् ॥७७॥

वेदान्त के श्रवण से तुम पण्डित तथा बुद्धिमान् हो गये हो। युक्ति से आत्म-वस्तु का विचार करके निदिध्यासन से सम्पन्न होकर तुम परम पद को प्राप्त हो चुके हो ॥ ७७ ॥

अतो ब्रह्मात्मविज्ञानमुपदिष्टं यथाविधि ॥
मयाचार्येण ते धीर सम्यक्तत्र प्रयत्नवान् ॥७८॥
भूत्वा विमुक्तबन्धस्त्वं छिन्नं द्वैतात्मसंशयः ॥
निर्द्वन्द्वो निःस्पृहो भूत्वा विचरस्व यथासुखम् ॥७९॥

हे धीर ! इसी लिए मुझ आचार्य ने विधिपूर्वक तुम्हारे लिए ब्रह्मात्म-विज्ञान का उपदेश किया है; अब तुम यत्न से सब बन्धनों को त्याग कर, द्वैत रूप संशयों का नाश करके, निर्द्वन्द्व और निस्पृह होकर सुखपूर्वक विचरो ॥ ७८—७९ ॥

वस्तुतो निष्प्रपञ्चोऽसि नित्यमुक्तः स्वभावतः ॥
न ते बन्धविमोक्षौ स्तः कल्पितौ तौ यतस्त्वयि॥८०॥

वास्तव में तुम प्रपञ्च से रहित हो, स्वभाव ही से नित्य मुक्त हो, तुम्हारा बन्ध और मोक्ष नहीं है, वे तुममें कल्पित हैं ॥ ८० ॥

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ॥
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥८१॥

न निरोध (प्रलय) है, न उत्पत्ति (सृष्टि) है, न कोई वद्ध है, न साधक है, न मुमुक्षु है, म मुक्त है—यही परमार्थ है ॥ ८१ ॥

श्रुति-सिद्धान्त-सारोऽयं तथैव त्वं स्वया धिया ॥
संविचार्य निदिध्यास्य निजानन्दात्मकं परम् ॥८२॥
साक्षात्कृत्वा परिच्छिन्नाद्वैतब्रह्माक्षरं स्वयम् ॥
जीवन्नेव विनिर्मुक्तो विश्रान्तः शान्तिमाश्रय ॥८३॥

यह सव श्रुतियों का सिद्धान्त है, इसी प्रकार अपनी बुद्धि से विचार कर, निदिध्यासन कर, निजानन्द रूप, अपरिच्छिन्न, अद्वैत, अक्षर, परब्रह्म का साक्षात्कार कर, जीवनमुक्त एवं विश्रान्त होकर शान्त हो जाओ ॥ ८२—८३ ॥

विचारणीया वेदान्ता वन्दनीयो गुरुः सदा ॥
गुरूणां वचनं पथ्यं दर्शनं सेवनंनृणाम् ॥८४॥

सदा वेदान्त का विचार करना चाहिये और गुरुओं का वन्दन करना चाहिये, क्योंकि मनुष्यों के लिए गुरुओं का वचन, दर्शन और सेवन हितकर है ॥ ८४ ॥

गुरुर्ब्रह्म स्वयं साक्षात् सेव्यो वन्द्यो मुमुक्षुभिः ॥
नोद्वेजनीय एवायं कृतज्ञेन विवेकिना ॥८५॥

गुरु साक्षात्स्वयं ब्रह्म है, अतः मुमुक्षुओं को गुरु की सेवा और वन्दना करनी चाहिये। कृतज्ञ विवेकी शिष्य द्वारा गुरु को कभी भी उद्वेग नहीं होना चाहिये ॥ ८५ ॥

यावदायुस्त्वया वन्द्यो वेदान्तो गुरुरीश्वरः ॥
मनसा कर्मणा वाचा श्रुतेरेवैष निश्चयः ॥८६॥

जब तक तुम जीवित रहो तब तक तुम्हें मन, कर्म एवं वचन से वेदान्त, गुरु तथा ईश्वर का अभिवादन करना चाहिये। यही श्रुति का निश्चय है ॥ ८६ ॥

भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कर्हिचित् ॥
अद्वैतं त्रिषु लोकेषु नाद्वैतं गुरुणा सह ॥८७॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्द-
भगवत्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छङ्करभगवतः
कृतौ तत्त्वोपदेशः समाप्तः

भाव* (सिद्ध) पदार्थों में सदा अद्वैत की भावना करे, पर साध्य (क्रिया) में अद्वैत-भावना कभी न करे। सिद्ध पदार्थों में भी गुरु को छोड़कर तीनों लोकों में अद्वैत भावना करे, परन्तु गुरु के साथ अद्वैत-भावना न करे। अर्थात् घट-पट आदि भाव पदार्थों में सदा ये सब ब्रह्म रूप ही हैं—ऐसी भावना करे। लोक-मर्यादा को अक्षुण्ण रखने के लिए खान-पान विवाह-शादी आदि क्रियाओं में—व्यवहार अवस्था में—अद्वैत की भावना न करे, क्योंकि ऐसा करने से देखा-देखी अज्ञ लोग भी ऐसा ही करने लगेंगे। ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि में ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। उसके सामने वास्तव में भक्ष्य-अभक्ष्य,

---

* कोई लोग इसका ऐसा अर्थ करते हैं—

गुरु के साथ भाव का अद्वैत करना चाहिये, अर्थात् जैसा गुरु का ब्रह्म-विषयक भाव हो वैसा ही भाव करना चाहिये। गुरु के साथ क्रिया का अद्वैत नहीं करना चाहिये, अर्थात् जैसा गुरु आचरण करे वैसा आचरण नहीं करना चाहिये। यह व्याख्या "ईश्वराणां वचो ग्राह्यं तथैवाचरितं क्वचित्" भागवत स्कंध० १०, अ० ३३, श्लोक ३२, के अनुसार की गई है। इन दोनों अर्थों में कौन हृदयङ्गम है, इसका विचार हम पाठकों पर निर्भर करते हैं।

गम्य-अगम्य और उपादेय-अनुपादेय आदि का प्रश्न ही नहीं है। परन्तु व्यवहार-दशा में ब्रह्मज्ञानी को भी इस सरणि का अवलम्ब नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करना समाज में बड़ा असामञ्जस्य पैदा कर सकता है। अज्ञानियों के हित के लिए अनादि काल से जो लोक-मर्यादा चली आ रही है, उसमें भारी क्षति पहुँचा सकता है। तीनों लोकों में अद्वैत की भावना करे, पर गुरु के साथ अद्वैत भावना न करे; क्योंकि जब गुरु के साथ—मैं भी ब्रह्म रूप हूँ और गुरु भी ब्रह्म रूप हैं, मुझमें और गुरु में भेद ही क्या है?—ऐसी अद्वैत भावना हो जायगी तो सदाचार-प्राप्त अभिवादन, अनुगमन और आज्ञापालन आदि व्यवहारों की उपेक्षा हो जायगी। इससे सदाचार का उल्लङ्घन, गुरु के प्रति कृतघ्नता तथा लोकापवाद का भय अनिवार्य है॥ ८७॥



अपरोक्षानुभूतिः

॥ श्रीः ॥

॥ अपरोक्षानुभूतिः ॥

श्रीहरिं परमानन्दमुपदेष्टारमीश्वरम् ॥
व्यापकं सर्वलोकानां कारणं तं नमाम्यहम् ॥१॥

परमानन्दरूप, आदि उपदेशक, घटघटव्यापी, सब लोकों के कारण, भगवान् श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

अपरोक्षानुभूतिर्वै प्रोच्यते मोक्षसिद्धये ॥
सद्भिरेषा प्रयत्नेन वीक्षणीया मुहुर्मुहुः ॥२॥

मोक्ष-सिद्धि के लिए अपरोक्षानुभूति नामक ग्रन्थ का निर्माण किया जाता है, मोक्षार्थी सज्जनों को चाहिये कि बार बार इसका पर्यालोचन करें ॥ २ ॥

स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात् ॥
साधनं प्रभवेत्पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम् ॥३॥

शास्त्र-विहित अपने अपने वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्मों के अनुष्ठान रूप तप से श्रीहरि भगवान् प्रसन्न होते हैं और उनकी प्रसन्नता से मनुष्यों को वैराग्य आदि चार साधनों की प्राप्ति होती है ॥ ३ ॥

ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु वैराग्यं विषयेष्वनु ॥
यथैव काकविष्ठायां वैराग्यं तद्धि निर्मलम् ॥४॥

जैसे काक-विष्ठा में हेय बुद्धि होने के कारण आपामर प्राणि-मात्र का वैराग्य होना स्वाभाविक है, उसी भाँति ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ) से लेकर स्थावर (वृक्ष) पर्यन्त जीवों के भोग्य पदार्थों में यदि वैराग्य हो जाय, तो वही सच्चा वैराग्य है ॥ ४ ॥

नित्यमात्मस्वरूपं हि दृश्यं तद्विपरीतगम् ॥
एवं यो निश्चयः सम्यग् विवेको वस्तुनः स वै ॥५॥

आत्म-स्वरूप नित्य (अविनाशी) है, जगत् उसके विपरीत (विनाशशील) है, इस प्रकार के दृढ़ निश्चय को वस्तुविवेक कहते हैं ॥ ५ ॥

सदैव वासनात्यागः शमोऽयमिति शब्दितः ॥
निग्रहो बाह्यवृत्तीनां दम इत्यभिधीयते ॥ ६ ॥

सदा वासनाओं (भोग्यों के सूक्ष्म संस्कारों) का त्याग करना शम कहलाता है और बाह्य वृत्तियों का निग्रह दम कहा जाता है ॥ ६ ॥

विषयेभ्यः परावृत्तिः परमोपरतिर्हि सा ॥
सहनं सर्वदुःखानां तितिक्षा सा शुभा मता ॥ ७ ॥

चित्त का समस्त विषयों से विमुख हो जाना ही परम उपरति है, सकल दुःखों की सहनशीलता—तितिक्षा कही जाती है ॥ ७ ॥

निगमाचार्यवाक्येषु भक्तिः श्रद्धेति विश्रुता ॥
चित्तैकाग्र्यं तु सल्लक्ष्ये समाधानमिति स्मृतम् ॥८॥

वेद और आचार्य के वचनों में भक्ति को श्रद्धा कहते हैं । ब्रह्मरूप सत् लक्ष्य में एक बर्तन से दूसरे बर्तन में गिरती हुई अटूट तेल की धारा के समान चित्त की एकाग्रता को समाधि कहते हैं ॥ ८ ॥

संसारबन्धनिर्मुक्तिः कथं स्यान्मे दयानिधे ॥
इति या सुदृढा बुद्धिर्वक्तव्या सा मुमुक्षुता ॥ ९ ॥

हे दयासागर ! संसाररूपी बन्धनों से मेरी मुक्ति कैसे होगी ? इस प्रकार की सुदृढ़ भावना को मुमुक्षुता कहना चाहिए ॥ ९ ॥

उक्तसाधनयुक्तेन विचारः पुरुषेण हि ॥
कर्तव्यो ज्ञानसिद्ध्यर्थमात्मनः शुभमिच्छता ॥१०॥

पूर्वोक्त साधनों से युक्त, अपने मङ्गल की कामनावाले पुरुष को ज्ञान की सिद्धि के लिए विचार करना चाहिए ॥ १० ॥

नोत्पद्यते विना ज्ञानं विचारेणान्यसाधनैः ॥
यथा पदार्थभानं हि प्रकाशेन विना क्वचित् ॥११॥

जैसे प्रकाश के बिना पदार्थों की प्रतीति कहीं नहीं होती, उसी प्रकार विचार के विना अन्य साधनों से ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। अर्थात् विचार करने से ही ज्ञान होता है, अतः मुमुक्षु के लिए विचार करना परम आवश्यक है ॥ ११ ॥

कोऽहं कथमिदं जातं को वा कर्त्तास्य विद्यते ॥
उपादानं किमस्तीह विचारः सोऽयमीदृशः ॥१२॥

मैं कौन हूँ ? यह जगत् कैसे उत्पन्न हुआ ? इसका कौन रचयिता है ? और कौन उपादान कारण है ? इस प्रकार का विचार ही विचार कहा जाता है ॥ १२ ॥

नाहं भूतगणो देहो नाहं चाक्षगणस्तथा ॥
एतद्विलक्षणः कश्चिद्विचारः सोऽयमीदृशः ॥१३॥

जैसे काक-विष्ठा में हेय बुद्धि होने के कारण आपामर प्राणि-मात्र का वैराग्य होना स्वाभाविक है, उसी भाँति ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ) से लेकर स्थावर (वृक्ष) पर्यन्त जीवों के भोग्य पदार्थों में यदि वैराग्य हो जाय, तो वही सच्चा वैराग्य है ॥ ४ ॥

नित्यमात्मस्वरूपं हि दृश्यं तद्विपरीतगम् ॥
एवं यो निश्चयः सम्यग् विवेको वस्तुनः स वै ॥५॥

आत्म-स्वरूप नित्य (अविनाशी) है, जगत् उसके विपरीत (विनाशशील) है, इस प्रकार के दृढ़ निश्चय को वस्तुविवेक कहते हैं ॥ ५ ॥

सदैव वासनात्यागः शमोऽयमिति शब्दितः ॥
निग्रहो बाह्यवृत्तीनां दम इत्यभिधीयते ॥ ६ ॥

सदा वासनाओं (भोग्यों के सूक्ष्म संस्कारों) का त्याग करना शम कहलाता है और बाह्य वृत्तियों का निग्रह दम कहा जाता है ॥ ६ ॥

विषयेभ्यः परावृत्तिः परमोपरतिर्हि सा ॥
सहनं सर्वदुःखानां तितिक्षा सा शुभा मता ॥ ७ ॥

चित्त का समस्त विषयों से विमुख हो जाना ही परम उपरति है, सकल दुःखों की सहनशीलता—तितिक्षा कही जाती है ॥ ७ ॥

निगमाचार्यवाक्येषु भक्तिः श्रद्धेति विश्रुता ॥
चित्तैकाग्र्यं तु सल्लक्ष्ये समाधानमिति स्मृतम् ॥८॥

वेद और आचार्य के वचनों में भक्ति को श्रद्धा कहते हैं। ब्रह्मरूप सत् लक्ष्य में एक बर्तन से दूसरे बर्तन में गिरती हुई अटूट तेल की धारा के समान चित्त की एकाग्रता को समाधि कहते हैं ॥ ८ ॥

संसारबन्धनिर्मुक्तिः कथं स्यान्मे दयानिधे ॥
इति या सुदृढा बुद्धिर्वक्तव्या सा मुमुक्षुता ॥ ९ ॥

हे दयासागर ! संसाररूपी बन्धनों से मेरी मुक्ति कैसे होगी ? इस प्रकार की सुदृढ़ भावना को मुमुक्षुता कहना चाहिए ॥ ९ ॥

उक्तसाधनयुक्तेन विचारः पुरुषेण हि ॥
कर्तव्यो ज्ञानसिद्ध्यर्थमात्मनः शुभमिच्छता ॥१०॥

पूर्वोक्त साधनों से युक्त, अपने मङ्गल की कामनावाले पुरुष को ज्ञान की सिद्धि के लिए विचार करना चाहिए ॥ १० ॥

नोत्पद्यते विना ज्ञानं विचारेणान्यसाधनैः ॥
यथा पदार्थभानं हि प्रकाशेन विना क्वचित् ॥११॥

जैसे प्रकाश के बिना पदार्थों की प्रतीति कहीं नहीं होती, उसी प्रकार विचार के बिना अन्य साधनों से ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। अर्थात् विचार करने से ही ज्ञान होता है, अतः मुमुक्षु के लिए विचार करना परम आवश्यक है ॥ ११ ॥

कोऽहं कथमिदं जातं को वा कर्त्तास्य विद्यते ॥
उपादानं किमस्तीह विचारः सोऽयमीदृशः ॥१२॥

मैं कौन हूँ ? यह जगत् कैसे उत्पन्न हुआ ? इसका कौन रचयिता है ? और कौन उपादान कारण है ? इस प्रकार का विचार ही विचार कहा जाता है ॥ १२ ॥

नाहं भूतगणो देहो नाहं चाक्षगणस्तथा ॥
एतद्विलक्षणः कश्चिद्विचारः सोऽयमीदृशः ॥१३॥

मैं भूतों (पृथिवी आदि पञ्च महाभूतों) का समूह नहीं हूँ, न देह हूँ, न चक्षु आदि इन्द्रियों का समूह ही हूँ; किन्तु मैं इन सब से विलक्षण (भिन्न-स्वभाव) कोई हूँ, इस प्रकार के विमर्श को विचार कहते हैं ॥ १३ ॥

अज्ञानप्रभवं सर्वं ज्ञानेन प्रविलीयते ॥
संकल्पो विविधः कर्ता विचारः सोऽयमीदृशः ॥१४॥

यह सारा जगत् अज्ञान से उत्पन्न हुआ है, ज्ञान से इसका लय हो जाता है, अनेक प्रकार का सङ्कल्प ही इसका कर्त्ता है, इत्यादि विमर्श विचार कहलाता है ॥ १४ ॥

एतयोर्यदुपादानमेकं सूक्ष्मं सदव्ययम् ॥
यथैव मृद्घटादीनां विचारः सोऽयमीदृशः ॥१५॥

जैसे मृत्तिका घट आदि का उपादान (कारण) है, वैसे ही अविनाशी, सूक्ष्म एवं अखण्ड सत् अर्थात् ब्रह्म, स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के जगत् का उपादान है, इस प्रकार के विमर्श को विचार कहते हैं ॥ १५ ॥

अहमेकोऽपि सूक्ष्मश्च ज्ञाता साक्षी सदव्ययः ॥
तदहं नात्र संदेहो विचारः सोऽयमीदृशः ॥१६॥

सबका ज्ञाता, साक्षी, सूक्ष्म, अखण्ड एवं अविनाशी जो ब्रह्म है, वही मैं हूँ, इसमें कोई सन्देह नहीं है, यही विचार का स्वरूप है ॥ १६ ॥

आत्मा विनिष्कलो ह्येको देहो बहुभिरावृतः ॥
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम् ॥१७॥

आत्मा निरवयव (अखण्ड) एवं एक है, देह बहुत सी वस्तुओं का समुदाय है, तो भी लोग उन दोनों को एक मानते हैं, इससे बढ़कर अज्ञान क्या होगा ? ॥ १७ ॥

आत्मा नियामकश्चान्तर्देहो नियम्यबाह्यकः ॥
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम् ॥१८॥

आत्मा नियामक (प्रेरक) एवं अन्तरङ्ग है, देह नियम्य (प्रेर्य) एवं बाह्य है, तथापि लोग उन दोनों में एकता का अनुभव करते हैं, इससे बढ़कर अज्ञान क्या होगा ? ॥ १८ ॥

आत्मा ज्ञानमयः पुण्यो देहो मांसमयोऽशुचिः ॥
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम् ॥१९॥

आत्मा ज्ञानमय एवं पवित्र है, देह मांसमय और अशुचि है। इतना वैलक्षण्य होते हुए भी लोग आत्मा और देह की एकता का अनुभव करते हैं, इससे बढ़कर अज्ञान क्या होगा ? ॥ १९ ॥

आत्मा प्रकाशकः स्वच्छो देहो तामस उच्यते ॥
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम् ॥२०॥

आत्मा प्रकाशक और स्वच्छ है, देह तामस कहा जाता है, तो भी उन दोनों की एकता का अनुभव करते हैं, इससे बढ़कर अज्ञान क्या हो सकता है ? ॥ २० ॥

आत्मा नित्यो हि सद्रूपो देहोऽनित्यो ह्यसन्मयः ॥
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम् ॥२१॥

आत्मा नित्य और सद्रूप है, देह अनित्य और असद्रूप है, तो भी उन दोनों की एकता का अनुभव करते हैं, इससे बढ़कर अज्ञान क्या होगा ? ॥ २१ ॥

आत्मनस्तत्प्रकाशत्वं यत्पदार्थावभासनम् ॥
नाग्न्यादिदीप्तिवद्दीप्तिर्भवत्यान्ध्यं यतो निशि ॥२२॥

जिससे सकल पदार्थों का भान होता है, वही आत्मा का प्रकाश है, सूर्य अग्नि के प्रकाश के समान उसका प्रकाश नश्वर नहीं है, किन्तु वह हमेशा एकतार रहता है। सूर्य का प्रकाश दिन में रहता है, रात्रि में नहीं, इसी से रात में अन्धकार हो जाता है। परन्तु परमात्मा का प्रकाश ऐसा नहीं है ॥ २२ ॥

देहोऽहमित्ययं मूढो मत्वा तिष्ठत्यहो जनः ॥
ममायमित्यपि ज्ञात्वा घटद्रष्टेव सर्वदा ॥२३॥

जैसे घट को देखनेवाला पुरुष घट को अपने से भिन्न देखता है, वैसे ही यह देह मेरा है, इस प्रकार देह को अपने से भिन्न देखता हुआ भी मूर्ख 'मैं ब्राह्मण हूँ' इस प्रकार देह ही को आत्मा समझ बैठता है, यह बड़े आश्चर्य की बात है ॥ २३ ॥

ब्रह्मैवाहं समः शान्तः सच्चिदानन्दलक्षणः ॥
नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः ॥२४॥

मैं सर्वत्र सम, शान्त, सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही हूँ, असद्-रूप देह नहीं हूँ, पण्डित लोग इसको ज्ञान कहते हैं ॥ २४ ॥

निर्विकारो निराकारो निरवद्योऽहमव्ययः ॥
नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः ॥२५॥

मैं निर्विकार, निराकार, निर्दोष और अव्यय हूँ; असत् रूप देह मैं नहीं हूँ; पण्डित लोग इसको ज्ञान कहते हैं ॥ २५ ॥

निरामयो निराभासो निर्विकल्पोऽहमाततः ॥
नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः ॥२६॥

मैं निरामय (नीरोग) हूँ, निराभास हूँ, निर्विकल्प हूँ, आतत (व्यापक) हूँ, मैं असत् रूप देह नहीं हूँ; पण्डित लोग इसे ज्ञान कहते हैं ॥ २६ ॥

निर्गुणो निष्क्रियो नित्यो नित्यमुक्तोऽहमच्युतः ॥
नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः ॥२७॥

मैं निर्गुण हूँ, निष्क्रिय हूँ, नित्य हूँ, नित्यमुक्त हूँ, अच्युत हूँ, असत् रूप देह नहीं हूँ; पण्डित लोग इसको ज्ञान कहते हैं ॥ २७ ॥

निर्मलो निश्चलोऽनन्तः शुद्धोऽहमजरोऽमरः ॥
नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः ॥२८॥

मैं निर्मल हूँ, निश्चल हूँ, अनन्त हूँ, शुद्ध हूँ, अजर हूँ, और अमर हूँ, असत् रूप देह नहीं हूँ; पण्डित लोग इसको ज्ञान कहते हैं ॥ २८ ॥

स्वदेहं शोभनं त्यक्त्वा पुरुषाख्यञ्च सम्मतम् ॥
किं मूर्ख शून्यमात्मानं देहातीतं करोषि भोः ॥२९॥*

श्रुतियों से सम्मत, सुन्दर, पुरुष नामक, सत्रूप स्वदेह को छोड़कर हे मूर्ख ! तू देहातिरिक्त शून्य आत्मा को क्यों मानता है ? ॥२९॥

---

* इस श्लोक में देहात्मवादी की ओर से शङ्का की गई है। निम्नलिखित श्लोकों में उक्त शङ्का का निरास किया गया है।

स्वात्मानं शृणु मूर्ख त्वं श्रुत्या युक्त्या च पूरुषम् ॥
देहातीतं सदाकारं सुदुर्दर्शं भवादृशाम् ॥३०॥

हे मूर्ख! तू अपने आत्मा को सुन। वह श्रुतियों और युक्तियों से सिद्ध, देहातिरिक्त और सत् रूप है, तुम्हारे सदृश मूर्ख लोग उसका दर्शन नहीं कर सकते ॥ ३० ॥

अहं शब्देन विख्यात एक एव स्थितः परः ॥
स्थूलत्वान्नैकतां प्राप्तः कथं स्याद्देहकः पुमान् ॥३१॥

केवल एक ही परमात्मा वेदों में अहं शब्द से विख्यात है, देह स्थूल होने के कारण उससे अभिन्न नहीं हो सकता, अतः देह पुरुष रूप कैसे कहा जा सकता है ? ॥ ३१ ॥

अहं द्रष्टृतया सिद्धो देहो दृश्यतया स्थितः ॥
ममायमिति निर्देशात् कथं स्याद्देहकः पुमान् ॥३२॥

मैं द्रष्टा रूप से सिद्ध हूँ, देह दृश्य रूप से वर्तमान है, क्योंकि यह मेरा शरीर है, इस तरह का व्यवहार होता है; अतः देह पुरुष कैसे हो सकता है ? ॥ ३२ ॥

अहं विकारहीनस्तु देहो नित्यं विकारवान् ॥
इति प्रतीयते साक्षात् कथं स्याद्देहकः पुमान् ॥३३॥

मैं निर्विकार हूँ, देह नित्य विकार को प्राप्त होता है; जब ऐसी साक्षात् प्रतीति होती है तो कुत्सित (मलमूत्र से भरा हुआ) देह पुरुष (आत्मा) कैसे हो सकता है ? ॥ ३३ ॥

यस्मात्परमिति श्रुत्या तया पुरुषलक्षणम् ॥
विनिर्णीतं विशुद्धेन कथं स्याद्देहकः पुमान् ॥३४॥

क्योंकि उपनिषदों में जहाँ तहाँ 'परम्' 'परम्' इस श्रुति ने देह आदि धर्मों के वैलक्षण्य से पुरुष के लक्षण का निर्णय किया है। अर्थात् जो परम है, देहादि के धर्मों से परे है, वही पुरुष है, ऐसा श्रुति ने प्रतिपादन किया है, इसलिए कुत्सित देह पुरुष कैसे हो सकता है ? ॥ ३४ ॥

सर्वं पुरुष एवेति सूक्ते पुरुषसंज्ञिते ॥
अप्युच्यते यतः श्रुत्या कथं स्याद्देहकः पुमान् ॥३५॥

पुरुषसूक्त की "पुरुष एवेदꣳसर्वम्" इस श्रुति ने भी पुरुष सर्वात्मा है—ऐसा कहा है, फिर देह पुरुष कैसे हो सकता है ? ॥ ३५ ॥

असङ्गः पुरुषः प्रोक्तो बृहदारण्यकेऽपि च ॥
अनन्तमलसंसृष्टः कथं स्याद्देहकः पुमान् ॥३६॥

बृहदारण्यक में भी पुरुष को असङ्ग (अन्य संसर्गरहित) कहा है, तो अनन्त मलों से भरा हुआ देह पुरुष कैसे हो सकता है ? ॥ ३६ ॥

तत्रैव च समाख्यातः स्वयं ज्योतिर्हि पूरुषः ॥
जडः परप्रकाश्योऽयं कथं स्याद्देहकः पुमान् ॥३७॥

वहीं पर पुरुष स्वयंज्योति (स्वप्रकाश) कहा गया है; अचेतन एवं सूर्य आदि से प्रकाशित होनेवाला यह देह पुरुष कैसे हो सकता है ? ॥ ३७ ॥

प्रोक्तो हि कर्मकाण्डेन ह्यात्मा देहाद्विलक्षणः ॥
नित्यश्च तत्फलं भुङ्क्ते देहपातादनन्तरम् ॥३८॥

कर्मकाण्ड ने भी आत्मा को देह से विलक्षण एवं नित्य बतलाया है। और वही देह के नष्ट हो जाने के बाद यज्ञ आदि के फल का

उपभोग करता है। यदि देह को ही आत्मा मानो तो "स्वर्गकामः सोमेन यजेत" इत्यादि श्रुतियों से प्रतिपादित तत् तत् यज्ञ करने से जायमान स्वर्ग आदि सुख का उपभोक्ता कौन रह जायगा ? शरीर तो अब रहा नहीं, राख का ढेर हो गया है, अतः मानना पड़ेगा कि देह से अतिरिक्त आत्मा है और वह अविनाशी है ॥ ३८ ॥

लिङ्गं चानेकसंयुक्तं चलं दृश्यं विकारि च ॥
अव्यापकमसद्रूपं तत्कथं स्यात्पुमानयम् ॥३८॥

लिङ्ग देह भी अनेक पदार्थों के संयोग से बना है, विनाशी है, जड़ है, विकारी है, अव्यापक एवं असद्रूप है, इसलिए वह भी पुरुष कैसे हो सकता है ? ॥ ३९ ॥

एवं देहद्वयादन्य आत्मा पुरुष ईश्वरः ॥
सर्वात्मा सर्वरूपश्च सर्वातीतोऽहमव्ययः ॥४०॥

इस तरह दोनों—स्थूल एवं सूक्ष्म—देहों से विलक्षण—आत्मा कहिये, पुरुष कहिये या ईश्वर कहिये—कोई है। वही घट-घट-व्यापी, सर्वरूप होता हुआ भी सब से पृथक् एवं अविनाशी मैं हूँ ॥ ४० ॥

इत्यात्मदेहमानेन प्रपञ्चस्यैव सत्यता ॥
यथोक्ता तर्कशास्त्रेण ततः किं पुरुषार्थता ॥४१॥

देह को आत्मा मानकर तर्कशास्त्र ने जो प्रपञ्च की सत्यता कही है, उससे कौन पुरुषार्थ सिद्ध हुआ ? ॥ ४१ ॥

इत्यात्मदेहभेदेन देहात्मत्वं निवारितम् ॥
इदानीं देहिभेदस्य ह्यसत्त्वं स्फुटमुच्यते ॥४२॥

पूर्वोक्त रीति से देह और आत्मा में परस्पर भेद सिद्ध हो जाने से देहात्म-वाद का खण्डन हो चुका। अब देही (जीव) के भेद की असत्यता स्पष्टतया कही जाती है, अर्थात् 'देही' (जीवात्मा) आत्मा (परमात्मा) से भिन्न है, इस बात की असत्यता का प्रतिपादन किया जाता है ॥ ४२ ॥

चैतन्यस्यैकरूपत्वाद् भेदो युक्तो न कर्हिचित् ॥
जीवत्वं च मृषा ज्ञेयं रज्ज्वां सर्पभ्रमो यथा ॥ ४३ ॥

देही (जीवात्मा) में परमात्मा का भेद कदापि युक्ति-युक्त नहीं है, क्योंकि वे दोनों चैतन्य स्वरूप हैं। यदि कहो कि जीवात्मा में जीवत्व आदि विरुद्ध धर्म है, सो ठीक नहीं, कारण कि जीवात्मा में जीवत्व वास्तविक नहीं है, किंतु रज्जु में सर्प के भ्रम की भाँति अज्ञान कल्पित है। यहाँ पर ऐसा अनुमान* किया जाता है—जीवात्मा परमात्मा से अभिन्न है, कारण कि वह चैतन्य रूप है; जो जो चैतन्य रूप है, वह परमात्मा से अभिन्न है, जैसे परमात्मा चैतन्य स्वरूप होने के कारण परमात्मा से अभिन्न है, ऐसा ही यह (जीवात्मा) भी है, अतएव इसका और परमात्मा का अभेद अवश्य है। यदि कहो कि—जीवात्मा परमात्मा से भिन्न है, क्योंकि उसमें जीवत्व आदि विरुद्ध धर्म हैं, जो विरुद्ध धर्माश्रय होता है, वह भिन्न होता है, जैसे—घोड़े से गाय विरुद्ध धर्माश्रय होने के कारण भिन्न है, वैसे ही यह भी है; अतः उससे भिन्न है, इस प्रकार के अनुमान

---

* जीवात्मा परमात्मनोऽभिन्नः चैतन्यैकरूपत्वात्, यो यश्चैतन्यैकरूपः स स परमात्मनोऽभिन्नः, यथा परमात्मा, तथा चायमतस्तथा। न च जीवात्मा परमात्मनो भिन्नः जीवत्वादिविरुद्धधर्मत्वात्, यो यो विरुद्धधर्माश्रयः स ततो भिद्यते यथा गौरश्वात् तथा चायमतस्तथेति वक्तुं शक्यते, जीवत्वस्य तत्रावास्तवत्वात्।

से भेद की सिद्धि हो जायगी, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ पर जीवत्व मिथ्या है ॥ ४३ ॥

रज्ज्वज्ञानात् क्षणेनैव यद्वद्रज्जुर्हि सर्पिणी ॥
भाति तद्वच्चितिः साक्षाद् विश्वाकारेण केवला ॥४४॥

यह रज्जु है, ऐसा रज्जुविषयक ज्ञान न होने से जिस प्रकार रज्जु ही क्षण भर में सर्पिणी बन जाती है, रज्जु में साँप का भ्रम हो जाता है, वैसे ही चिति (चैतन्य—ब्रह्म) के अज्ञान से केवल चिति ही विश्व के आकार में परिणत होती है, चिति में ही विश्व का भ्रम होता है। वास्तव में चिति से पृथक् कुछ भी नहीं है ॥ ४४ ॥

उपादानं प्रपञ्चस्य ब्रह्मणोऽन्यन्न विद्यते ॥
तस्मात्सर्वप्रपञ्चोऽयं ब्रह्मैवास्ति न चेतरत् ॥४५॥

इस जगत् रूप प्रपञ्च का उपादान (कारण) ब्रह्म से अतिरिक्त कोई नहीं है, इसलिए यह सारा प्रपञ्च ब्रह्मस्वरूप ही है; उससे अतिरिक्त नहीं है ॥ ४५ ॥

व्याप्यव्यापकता मिथ्या सर्वमात्मेति शासनात् ॥
इति ज्ञाते परे तत्त्वे भेदस्यावसरः कुतः ॥४६॥

जगत् एवं ब्रह्म का व्याप्य व्यापक भाव मिथ्या है, क्योंकि शास्त्र कहता है—इस जगतीतल में जो कुछ है, वह सब ब्रह्म ही है। जगत् व्याप्य है, ब्रह्म व्यापक है—ऐसा व्यवहार इन दोनों के बीच में भेद सिद्ध होने से हो सकता है। परन्तु भेद तो है नहीं, और अभेद में ऐसा व्यवहार कदापि नहीं हो सकता। इस प्रकार परम तत्त्व को जान लेने पर भेद का अवकाश ही कहाँ है? ॥ ४६ ॥

श्रुत्या निवारितं नूनं नानात्वं स्वमुखेन हि ॥
कथं भासो भवेदन्यः स्थिते चाद्वयकारणे ॥४७॥

'नेह नानास्ति किञ्चन' इस श्रुति ने श्रीमुख से नानात्व (भेद) का निषेध किया है। अद्वैत-प्रतीति के कारणों के रहते हुए द्वैत का भान कैसे हो सकता है ? ॥ ४७ ॥

दोषोऽपि विहितः श्रुत्या मृत्योर्मृत्युं स गच्छति ॥
इह पश्यति नानात्वं मायया वञ्चितो नरः ॥४८॥

'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति' इस श्रुति ने भेद-दर्शन में दोष का विधान किया है—जो माया-वञ्चित पुरुष ब्रह्म में नानात्व (भेद) देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥

ब्रह्मणः सर्वभूतानि जायन्ते परमात्मनः ॥
तस्मादेतानि ब्रह्मैव भवन्तीत्यवधारयेत् ॥४९॥

परमात्मस्वरूप ब्रह्म से सब जीव उत्पन्न होते हैं, इसलिए ये सब ब्रह्म ही हैं—ऐसा निश्चय करना चाहिए ॥ ४९ ॥

ब्रह्मैव सर्वनामानि रूपाणि विविधानि च ॥
कर्माण्यपि समग्राणि बिभर्तीति श्रुतिर्जगौ ॥५०॥

ब्रह्म ही सब नामों, विविध रूपों एवं नाना कर्मों को धारण करता है—ऐसा श्रुति ने कहा है ॥ ५० ॥

सुवर्णाज्जायमानस्य सुवर्णत्वञ्च शाश्वतम् ॥
ब्रह्मणो जायमानस्य ब्रह्मत्वं च तथा भवेत् ॥५१॥

जैसे सोने के बने हुए कटक-कुण्डल आदि आभूषणों में सुवर्णता का अपलाप कभी नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार ब्रह्म से जायमान इस संसार रूप प्रपञ्च की ब्रह्मता भी अक्षय है ॥ ५१ ॥

स्वल्पमप्यन्तरं कृत्वा जीवात्मपरमात्मनोः ॥
योऽवतिष्ठति मूढात्मा भयं तस्याभिभाषितम् ॥५२॥

जो मूर्ख जीवात्मा एवं परमात्मा में तनिक भी भेद मानता है, उसके लिए श्रुति ने जन्म-मरण का भय कहा है ॥ ५२ ॥

यत्राज्ञानाद्भवेद्द्वैतमितरस्तत्र पश्यति ॥
आत्मत्वेन यदा सर्वं नेतरस्तत्र चाण्वपि ॥५३॥

जिस अवस्था में अज्ञान से द्वैत-बुद्धि रहती है, वहीं पर एक दूसरे को देखता है; जब सारे जगत् को ब्रह्मभाव से देखने लगता है तब अणुमात्र भी दूसरा नहीं है। अर्थात् द्वैत का एकमात्र कारण अज्ञान है, उसके निवृत्त होने पर द्वैत स्वतः निवृत्त हो जाता है और सारा प्रपञ्च ब्रह्मरूप से भासने लगता है ॥ ५३ ॥

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि ह्यात्मत्वेन विजानतः ॥
न वै तस्य भवेन्मोहो न च शोकोऽद्वितीयतः ॥५४॥

जब ब्रह्मज्ञानी मनुष्य समस्त प्राणियों को ब्रह्मरूप जान लेता है, तब अद्वैत होने से उसे न शोक होता है, न मोह, क्योंकि शोक-मोह आदि द्वैत होने से ही हो सकते हैं, अद्वैत में शोक-मोह के लिए स्थान ही कहाँ है? तब न मित्र है, न शत्रु, न संयोग है, न वियोग ॥ ५४ ॥

अयमात्मा हि ब्रह्मैव सर्वात्मकतया स्थितः ॥
इति निर्धारितं श्रुत्या बृहदारण्यकस्थया ॥५५॥

बृहदारण्यकस्थ श्रुति ने यह निर्णय किया है कि—यह प्रत्यगात्मा ही ब्रह्म है और यही सर्वस्वरूप है ॥ ५५ ॥

अनुभूतोऽप्ययं लोको व्यवहारक्षमोऽपि सन् ॥
असद्रूपो यथा स्वप्न उत्तरक्षणबाधतः ॥ ५६ ॥

जैसे स्वप्न का जगत् अनुभव का विषय होता हुआ भी, व्यवहार में समर्थ होता हुआ भी, असत् रूप है, क्योंकि जाग्रत्काल में उसका बाध है; वैसे ही यह जाग्रत् अवस्था का जगत् भी भले ही अनुभव का विषय हो और भले ही व्यवहार-समर्थ हो, पर है असत्य, क्योंकि स्वप्नकाल में इसका बाध हो जाता है ॥ ५६ ॥

स्वप्नो जागरणेऽलीकः स्वप्नेऽपि न हि जागरः ॥
द्वयमेव लये नास्ति लयोऽपि ह्युभयोर्न च ॥५७॥

जाग्रत्-अवस्था में स्वप्न-जगत् मिथ्या हो जाता है, स्वप्न में जाग्रत् नहीं रहता और सुषुप्ति-अवस्था में दोनों नहीं रहते; स्वप्न और जाग्रत् में सुषुप्ति भी नहीं रहती ॥ ५७ ॥

त्रयमेव भवेन्मिथ्या गुणत्रयविनिर्मितम् ॥
अस्य द्रष्टा गुणातीतो नित्यो ह्येकश्चिदात्मकः ॥५८॥

सत्व, रज और तम से विनिर्मित ये पूर्वोक्त तीनों लोक मिथ्या हैं—कल्पित हैं। सत्त्व आदि तीनों गुणों से परे, अविनाशी, अद्वितीय और आनन्दरूप ब्रह्म इनका साक्षी है ॥ ५८ ॥

यद्वन्मृदि घटभ्रान्तिं शुक्तौ वा रजतस्थितिम् ॥
तद्वद् ब्रह्मणि जीवत्वं भ्रान्त्या पश्यति न स्वतः ॥५९॥

जैसे मिट्टी में घड़े का भ्रम होता है या सीप में चाँदी की भ्रान्ति होती है, वैसे ही अज्ञान से ब्रह्म में जीवत्व का भान होता है; वास्तव में ब्रह्म में जीव-भाव नहीं है ॥ ५९ ॥

यथा मृदि घटो नाम कनके कुण्डलाभिधा ॥
शुक्तौ हि रजतख्यातिर्जीवशब्दस्तथा परे ॥ ६० ॥

जैसे मिट्टी में घड़ा, सोने में कुण्डल और सीप में चाँदी केवल नाम-मात्र हैं, वस्तुतः घड़ा, कुण्डल और चाँदी क्रम से मिट्टी, सोना और सीप से अतिरिक्त नहीं हैं, किन्तु तद्रूप ही हैं, उसी प्रकार पर-ब्रह्म में जीव भी नाम-मात्र है ॥ ६० ॥

यथा व्योमनि नीलत्वं यथा नीरं मरुस्थले ॥
पुरुषत्वं यथा स्थाणौ तद्वद्विश्वं चिदात्मनि ॥ ६१ ॥

जैसे नीरूप आकाश में नीलिमा मालूम होती है, जैसे जल-शून्य मरु-प्रदेश में हरिणों को जल के तालाब के तालाब दिखाई देते हैं, जैसे खम्भे में मनुष्य की भ्रान्ति होती है, ठीक उसी प्रकार चेतन आत्मा में विश्व का भ्रम होता है। अर्थात् जैसे नीलिमा, जल और पुरुषत्व क्रम से आकाश, मरुभूमि और खम्भे में अज्ञान से कल्पित और मिथ्या हैं, उसी भाँति चिदात्मा में विश्व भी अज्ञान-कल्पित और मिथ्या है ॥ ६१ ॥

यथैव शून्ये वेतालो गन्धर्वाणां पुरं यथा ॥
यथाकाशे द्विचन्द्रत्वं तद्वत्सत्ये जगत्स्थितिः ॥ ६२ ॥

जैसे शून्य स्थान में वेताल की स्थिति, आकाश में गन्धर्वों के नगर और दो चन्द्रमाओं की स्थिति मनगढ़न्त एवं निराधार है, उसी प्रकार सत्य (आत्मा) में संसार की स्थिति भी भ्रममूलक है।

अर्थात् जैसे पूर्वोक्त वेताल आदि अलीक एवं असम्भूत पदार्थ हैं, उसी प्रकार यह जगत् भी अलीक एवं असम्भूत है, पर अज्ञानवश हम लोग इसे सत्य-सा देखते हैं, वास्तव में यह कुछ नहीं है ॥ ६२ ॥

यथा तरङ्गकल्लोलैर्जलमेव स्फुरत्यलम् ॥
पात्ररूपेण ताम्रं हि ब्रह्माण्डौघैस्तथात्मता ॥ ६३ ॥

जैसे छोटी-बड़ी लहरों से केवल जल ही अभिव्यक्त होता है, क्योंकि जल के अतिरिक्त तरङ्गों में और है ही क्या ? जिसका कि वे प्रत्यायन करें; घट आदि पात्रों के रूप से ताँबा ही अभिव्यक्त होता है, क्योंकि ताँवे के घड़े में ताँबे से अतिरिक्त और क्या है ? उसी प्रकार ब्रह्माण्ड-समूह से आत्मा का ही स्फुरण होता है ॥ ६३ ॥

घटनाम्ना यथा पृथ्वी पटनाम्ना हि तन्तवः ॥
जगन्नाम्ना चिदाभाति ज्ञेयं तत्तदभावतः ॥ ६४ ॥

जैसे पृथिवी ही 'घट' नाम से एवं तन्तु ही 'पट' नाम से प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार चित् (ब्रह्म) ही 'जगत्' नाम से प्रतीत होता है; इस बात को घट-पट आदि तत् तत् कार्यों के लय-चिन्तन से जानना चाहिए ॥ ६४ ॥

सर्वोऽपि व्यवहारस्तु ब्रह्मणा क्रियते जनैः ॥
अज्ञानान्न विजानन्ति मृदेव हि घटादिकम् ॥ ६५ ॥

जैसे मिट्टी ही घट आदि के द्वारा जलानयन आदि कार्य करती है, उसी प्रकार यह सारा व्यवहार ब्रह्म से ही मनुष्यों के द्वारा किया जाता है, परन्तु अज्ञानवश लोग उसे जानते नहीं ॥ ६५ ॥

कार्य्यकारणता नित्यमास्ते घटमृदोर्यथा ॥
तथैव श्रुतियुक्तिभ्यां प्रपञ्चब्रह्मणोरिह ॥ ६६ ॥

जैसे घट और मृत्तिका का कार्य-कारण भाव नित्य है, वैसे ही प्रपञ्च (जगत्) और ब्रह्म का नित्य कार्य-कारणभाव श्रुति तथा युक्ति के द्वारा निश्चित है ॥ ६६ ॥

गृह्यमाणे घटे यद्वन्मृत्तिका भाति वै बलात् ॥
वीक्ष्यमाणे प्रपञ्चेऽपि ब्रह्मैवाभाति भासुरम् ॥६७॥

घड़े को हाथ में लेकर सूक्ष्म रीति से देखने पर भी जैसे हठात् मिट्टी का ही भान होता है, वैसे ही प्रपञ्च को विचारपूर्वक देखने पर केवल प्रकाश रूप ब्रह्म ही भासता है ॥ ६७ ॥

सदैवात्मा विशुद्धोऽपि ह्यशुद्धो भाति वै सदा ॥
यथैव द्विविधा रज्जुर्ज्ञानिनोऽज्ञानिनोऽनिशम् ॥६८॥

जैसे एक ही रज्जु, ज्ञानी को रज्जु रूप से और अज्ञानी को, जिसे यह रज्जु है, ऐसा ज्ञान नहीं हुआ उसको—सर्प रूप से प्रतीत होती है, वैसे ही सदा विशुद्ध आत्मा अज्ञानी को अशुद्ध प्रतीत होता है ॥ ६८ ॥

तथैव मृण्मयः कुम्भस्तद्वद्देहोऽपि चिन्मयः ॥
आत्मानात्मविभागोऽयं मुधैव क्रियते बुधैः ॥६९॥

जैसे घड़ा मृण्मय है—मिट्टी का बना हुआ है, उसी प्रकार देह भी चिन्मय है—ब्रह्ममय है, अर्थात् ब्रह्म से बना है; विद्वान् लोग आत्मा और अनात्मा का विभाग वृथा ही करते हैं, क्योंकि विभाग दो पदार्थों में होता है, जब सब आत्मरूप ही है आत्मा से अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, तब विभाग कैसा ? ॥ ६९ ॥

सर्पत्वेन यथा रज्जू रजतत्वेन शुक्तिका ॥
विनिर्णीता विमूढेन देहत्वेन तथात्मता ॥७०॥

जैसे रज्जु और शुक्तिका को—यह रज्जु है—इस बुद्धि से रज्जु को और यह शुक्तिका है—इस बुद्धि से शुक्तिका को—न जाननेवाला पुरुष रज्जु को सर्प और शुक्तिका को रजत समझ बैठता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान-विमुख मूर्ख आत्मा को देह समझ बैठा है; अर्थात् आत्मा का देहरूप से निर्णय कर लेता है ॥ ७० ॥

घटत्वेन यथा पृथ्वी पटत्वेनैव तन्तवः ॥
विनिर्णीता विमूढेन देहत्वेन तथात्मता ॥ ७१ ॥

जैसे पृथिवी का घट रूप से और सूत का पट रूप से लोग निर्णय करते हैं, अर्थात् जैसे मिट्टी को घड़ा एवं सूत को कपड़ा कहते हैं; उसी प्रकार मूर्ख ने आत्मा का देह रूप से निर्णय किया है ॥ ७१ ॥

कनकं कुण्डलत्वेन तरङ्गत्वेन वै जलम् ॥
विनिर्णीता विमूढेन देहत्वेन तथात्मता ॥ ७२ ॥

जैसे लोग सुवर्ण का कुण्डल रूप से एवं जल का तरङ्ग रूप से निश्चय करते हैं, उसी प्रकार मूर्ख ने आत्मा का देह रूप से निश्चय किया है ॥ ७२ ॥

पुरुषत्वेन वै स्थाणुर्जलत्वेन मरीचिका ॥
विनिर्णीता विमूढेन देहत्वेन तथात्मता ॥ ७३ ॥

जैसे खम्भे का पुरुष (चोर) रूप से एवं मृग-तृष्णा का जल रूप से निर्णय किया जाता है, उसी प्रकार मूर्ख ने आत्मा का देह रूप से निर्णय किया है ॥ ७३ ॥

गृहत्वेनैव काष्ठानि खड्गत्वेनैव लोहता ॥
विनिर्णीता विमूढेन देहत्वेन तथात्मता ॥ ७४ ॥

जैसे काष्ठों का गृह रूप से और लोहा का तलवार रूप से निर्णय किया जाता है, उसी प्रकार मूर्ख ने आत्मा का देह रूप से निर्णय किया है ॥ ७४ ॥

यथा वृक्षविपर्यासो जलाद्भवति कस्यचित् ॥
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥ ७५ ॥

जैसे जल रूप दोष से किसी आदमी को पेड़ उलटे दिखाई देते हैं, अर्थात् जैसे जल में प्रतिबिम्बित पेड़ उलटे दिखाई देते हैं; उसी प्रकार अज्ञान-वश मूर्ख आत्मा में देहत्व की प्रतीति करता है ॥७५॥

पोतेन गच्छतः पुंसः सर्वं भातीव चञ्चलम् ॥
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥ ७६ ॥

जैसे जहाज से यात्रा करते हुए मनुष्य को निकटवर्ती सभी वस्तुएँ चलती सी मालूम होती हैं, उसी प्रकार अज्ञान-वश मूर्ख आत्मा में देहत्व को देखता है ॥ ७६ ॥

पीतत्वं हि यथा शुभ्रे दोषाद् भवति कस्यचित् ॥
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥ ७७ ॥

जैसे काँमला आदि दोप से किसी मनुष्य को सफेद वस्तु पीली दिखाई देती है, उसी प्रकार अज्ञान के योग से मूर्ख आत्मा में देहत्व की प्रतीति करता है ॥ ७७ ॥

चक्षुर्भ्यां भ्रमशीलाभ्यां सर्वं भाति भ्रमात्मकम् ॥
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥ ७८ ॥

जैसे भ्रमणशील (घूमनेवाले) नेत्रों से सभी वस्तुएँ घूमती हुई मालूम होती है, उसी प्रकार अज्ञान के योग से मूर्ख आत्मा में देहत्व की प्रतीति करता है ॥ ७८ ॥

अलातं भ्रमणेनैव वर्तुलं भाति सूर्य्यवत् ॥
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥ ७९ ॥

जैसे जलती हुई लकड़ी (उल्का) घुमाने से सूर्य के समान गोल मालूम होती है, वास्तव में वह गोल है नहीं; उसी प्रकार अज्ञान-वश मूर्ख आत्मा में देहत्व की प्रतीति करता है ॥ ७९ ॥

महत्वे सर्ववस्तूनामणुत्वं ह्यतिदूरतः ॥
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥ ८० ॥

बड़ी बड़ी वस्तुएँ क्यों न हों लेकिन अति दूर से वे सब अणु-सी मालूम होती हैं, अर्थात् जैसे अति दूर उपाधि से बड़ी बड़ी वस्तुएँ भी छोटी दिखाई देती हैं; उसी प्रकार अज्ञान-वश अज्ञानी आत्मा में देहत्व को देखता है ॥ ८० ॥

सूक्ष्मत्वे सर्ववस्तूनां स्थूलत्वं चोपनेत्रतः ॥
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥ ८१ ॥

बहुत सी वस्तुएँ अति सूक्ष्म होने पर भी चश्मा लगाने से बड़ी मालूम होती हैं, उसी प्रकार अज्ञान-वश अज्ञानी आत्मा में देहत्व की प्रतीति करता है ॥ ८१ ॥

काचभूमौ जलत्वं वा जलभूमौ हि काचता ॥
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥ ८२ ॥

जैसे काच के गच में जलत्व-बुद्धि होती है और जल में काच की बुद्धि, उसी प्रकार अज्ञान के योग से अज्ञानी को आत्मा में देहत्व का भान होता है ॥ ८२ ॥

यद्वदग्नौ मणित्वं हि मणौ वा वह्निता पुमान् ॥
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥८३॥

जैसे पुरुष को अग्नि में मणित्व-बुद्धि—यह मणि है ऐसी बुद्धि—होती है और मणि में अग्नित्व-बुद्धि, उसी प्रकार अज्ञान के योग से आत्मा में देहत्व-बुद्धि होती है ॥ ८३ ॥

अभ्रेषु सत्सु धावत्सु धावन्निव यथा शशी ॥
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥ ८४ ॥

मेघों के दौड़ने पर चन्द्रमा दौड़ता दिखाई देता है, वैसे ही अज्ञान-वश आत्मा में देहत्व-बुद्धि होती है ॥ ८४ ॥

यथैव दिग्विपर्यासो मोहाद्भवति कस्यचित् ॥
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥ ८५ ॥

जैसे किसी आदमी को अज्ञान से दिशाओं का विपर्यय (दिग्भ्रम) होता है, उसी प्रकार अज्ञान के योग से आत्मा में देहत्व का भान होता है ॥ ८५ ॥

यथा शशी जले भाति चञ्चलत्वेन कस्यचित् ॥
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥८६॥

हिलते हुए जल में जैसे चन्द्रमा भी हिलता हुआ दिखाई देता है, उसी प्रकार अज्ञान के योग से आत्मा में देहत्व का भान होता है ॥ ८६ ॥

एवमात्मनि न ज्ञाते देहाध्यासो हि जायते ॥
स एवात्मा परिज्ञातो लीयते च परात्मनि ॥ ८७ ॥

इस प्रकार आत्मविषयक ज्ञान न होने पर आत्मा में देहाध्यास होता है—देहात्म-बुद्धि होती है, पर ज्ञान का विषय होता हुआ वही आत्मा परमात्मा में लीन हो जाता है ॥ ८७ ॥

सर्वमात्मतया ज्ञातं जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥
अभावात् सर्वभावानां देहानां चात्मता कुतः ॥८८॥

सारा चराचर जगत् आत्मत्वेन जाना जाता है, अर्थात् जैसे रज्जु में सर्प का भ्रम होता है, उसी प्रकार आत्मा में जगत् का भ्रम है। ऐसा जब है, तो पृथिवी आदि किसी पदार्थ का भी अस्तित्व नहीं रहा, क्योंकि भ्रान्त (कल्पित) पदार्थ असत् होते हैं। ऐसी अवस्था में भ्रान्त पदार्थों से रचित—अतिशय असत् देह को सार पदार्थ—आत्मा मान लेना कहाँ की बुद्धिमानी है ? ॥ ८८ ॥

आत्मानं सततं जानन् नय कालं महामते ॥
प्रारब्धमखिलं भुञ्जन्नोद्वेगं कर्तुमर्हसि ॥ ८९ ॥

हे महामते ! तुम सदा आत्म-विषयक ज्ञान का उपार्जन करते हुए समय बिताओ, पूर्व जन्म के कर्मों का भोग करते हुए कभी दुःखी न होओ ॥ ८९ ॥

उत्पन्नेऽप्यात्मविज्ञाने प्रारब्धं नैव मुञ्चति ॥
इति यच्छ्रूयते शास्त्रात्तन्निराक्रियतेऽधुना ॥ ९० ॥

आत्म-ज्ञान हो जाने पर भी प्रारब्ध नहीं छोड़ता, अर्थात् अतीत जन्मों के सुकृत-दुष्कृत का उपभोग करना ही पड़ता है, ऐसा जो शास्त्र से सुना जाता है, उसका अब हम निराकरण करते हैं ॥ ९० ॥

तत्त्वज्ञानोदयादूर्ध्वं प्रारब्धं नैव विद्यते ॥
देहादीनामसत्यत्वाद् यथा स्वप्नः प्रबोधतः ॥९१॥

जैसे जाग्रत्-अवस्था में स्वप्न का रहना असम्भव है, उसी प्रकार तत्त्व-ज्ञान के अनन्तर प्रारब्ध (अतीत जन्म के कर्म) नहीं टिक सकता, क्योंकि तब देह आदि सब असत् हो जाते हैं, नहीं रहते हैं। देह आदि से ही प्रारब्ध का सम्बन्ध है, जब सम्बन्धी ही नहीं रहा तो वह किसके आधार पर रह सकता है ? ॥ ९१ ॥

कर्म जन्मान्तरकृतं प्रारब्धमिति कीर्तितम् ॥
तत्तु जन्मान्तराभावात्पुंसो नैवास्ति कर्हिचित् ॥९२॥

अन्यान्य जन्मों में किया गया कर्म प्रारब्ध कहा जाता है। आत्मा का जन्मान्तर होता ही नहीं, इसलिए आत्मा से उसका सम्बन्ध है—ऐसा कदापि नहीं कहा जा सकता ॥ ९२ ॥

स्वप्नदेहो यथाध्यस्तस्तथैवायं हि देहकः ॥
अध्यस्तस्य कुतो जन्म जन्माभावे स्थितिः कुतः॥९३॥

जैसे स्वप्न-देह अध्यस्त (भ्रान्तिकल्पित) है, वैसे ही यह जाग्रत्-देह भी भ्रान्तिकल्पित है। भ्रान्ति से कल्पित का जन्म कहाँ ? जन्म के अभाव से प्रारब्ध की स्थिति कैसी ? ॥ ९३ ॥

उपादानं प्रपञ्चस्य मृद्भाण्डस्येव कथ्यते ॥
अज्ञानं चैव वेदान्तैस्तस्मिन्नष्टे क्व विश्वता ॥९४॥

जैसे मिट्टी घड़े आदि वर्तनों की उपादान कारण कही गई है, उसी प्रकार इस सारे जञ्जाल का उपादान कारण वेदान्तियों ने अज्ञान को माना है। यदि अज्ञान नष्ट हो जाय तो संसार कहाँ ? ॥ ९४ ॥

यथा रज्जुं परित्यज्य सर्पं गृह्णाति वै भ्रमात् ॥
तद्वत्सत्यमविज्ञाय जगत् पश्यति मूढधीः ॥८५॥

जैसे अँधेरे में पड़ी हुई, वायु के हिलोरों से कुछ कुछ हिलती हुई रस्सी को रस्सी न समझकर अज्ञानवश मनुष्य उसे साँप समझ लेता है और उससे भय खाता है; ठीक इसी प्रकार अज्ञानी ब्रह्म को न जानकर जगत् को देखता है, ब्रह्म में जगत् का भ्रम करता है ॥८५॥

रज्जुरूपे परिज्ञाते सर्पभ्रान्तिर्न तिष्ठति ॥
अधिष्ठाने तथा ज्ञाते प्रपञ्चः शून्यतां व्रजेत् ॥८६॥

जब रस्सी का रस्सी के रूप में ज्ञान हो जाता है, तब साँप का भ्रम नहीं ठहरता, इसी प्रकार अधिष्ठान रूप ब्रह्म का ज्ञान होने पर यह प्रपञ्च (जञ्जाल) शून्य हो जाता है ॥ ८६ ॥

देहस्यापि प्रपञ्चत्वात्प्रारब्धावस्थितिः कुतः ॥
अज्ञानिजनबोधार्थं प्रारब्धं वक्ति वै श्रुतिः ॥८७॥

देह भी तो प्रपञ्च रूप ही है, तो ऐसी अवस्था में, उससे सम्बन्ध रखनेवाले प्रारब्ध की स्थिति कैसे मानी जा सकती है। श्रुति ने जो प्रारब्ध का कथन किया है, वह केवल अज्ञानियों को समझाने के लिए, क्योंकि अगर श्रुति प्रारब्ध का निर्वचन न करती तो सम्भव है लोग कार्याकार्य का विचार न करते ॥ ८७ ॥

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे* ॥
बहुत्वं तन्निषेधार्थं श्रुत्या गीतञ्च वै स्फुटम् ॥८८॥

---

* परावरे = पर ब्रह्मादि हैं अपर (निकृष्ट) जिससे।

"उस परमात्मा के दर्शन होने पर इसके सब कर्म नष्ट हो जाते हैं"—इस श्रुति ने प्रारब्ध के निषेध के लिए ही कर्म शब्द में बहुवचन का उपादान किया है ॥ ९८ ॥

उच्यतेऽज्ञैर्बलाच्चैतत्तदानर्थद्वयागमः ॥
वेदान्तमतहानञ्च यतो ज्ञानमिति श्रुतिः ॥९९॥

यदि अज्ञानी पुरुष अज्ञान से प्रारब्ध का स्वीकार करें तो दो दोषों की प्राप्ति होती है—(१) प्रारब्ध रूप द्वैत का अङ्गीकार करने से अनिर्मोक्षप्रसङ्ग, (२) मोक्ष के अभाव में ज्ञान के सम्प्रदाय का उच्छेद; केवल इन दोषों की ही प्राप्ति नहीं है, प्रत्युत वेदान्त के मत—अद्वैत—का त्याग भी हो जायगा इसलिए जिससे ज्ञान की प्राप्ति हो वह श्रुति अर्थात् श्रुति-प्रतिपादित अद्वैत ही अङ्गीकार्य है। तात्पर्य यह कि विद्वान् की दृष्टि में अव्यक्त से लेकर स्वकीय देह पर्यन्त संसार नहीं है तो प्रारब्ध कैसे रह सकता है ? अज्ञानी पुरुष विद्वान् के बोध पर विश्वास करते हुए उसके शरीर की स्थिति देखते हैं। प्रारब्ध के सद्भाव का प्रतिपादन करनेवाली श्रुति उनके अनुभव का अनुवाद करती है ॥ ९९ ॥

त्रिपञ्चाङ्गान्यथो वक्ष्ये पूर्वोक्तस्यैव सिद्धये ॥
तैश्च सर्वैः सदा कार्य्यं निदिध्यासनमेव तु ॥१००॥

पूर्वोक्त ज्ञान की प्राप्ति के लिए मैं पन्द्रह अङ्ग कहूँगा, उन सब अङ्गों से सदा निदिध्यासन करना चाहिये ॥ १०० ॥

नित्याभ्यासादृते प्राप्तिर्न भवेत् सच्चिदात्मनः ॥
तस्माद् ब्रह्म निदिध्यासेज्जिज्ञासुः श्रेयसे चिरम् ॥१०१॥

नित्य अभ्यास के बिना सच्चित् आत्मा की प्राप्ति नहीं होती, इसलिए जिज्ञासु पुरुष को कल्याण के लिए ब्रह्म का निदिध्यासन करना चाहिये ॥ १०१ ॥

यमो हि नियमस्त्यागो मौनं देशश्च कालतः ॥
आसनं मूलबन्धश्च देहसाम्यं च दृक्स्थितिः ॥१०२॥
प्राणसंयमनं चैव प्रत्याहारश्च धारणा ॥
आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यङ्गानि वैक्रमात् १०३

यम, नियम, त्याग, मौन, देश, काल, आसन, मूलबन्ध, देह-साम्य, दृक्स्थिति, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, आत्मध्यान और समाधि क्रम से ये पन्द्रह अङ्ग कहे गये हैं ॥ १०२—१०३ ॥

सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः ॥
यमोऽयमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ॥१०४॥

सभी ब्रह्म है—इस ज्ञान से इन्द्रियों का संयम करना अर्थात् इन्द्रियों से विषयों का भोग करते हुए भी विषयों को उनके वास्तव स्वरूप ब्रह्म रूप से देखना यही यम है, इसका बार बार अभ्यास करना चाहिये ॥ १०४ ॥

सजातीयप्रवाहश्च विजातीयतिरस्कृतिः ॥
नियमो हि परानन्दो नियमात् क्रियते बुधैः ॥१०५॥

सजातीय (ब्रह्माकार) वृत्ति का प्रवाह विजातीय घट-पट आदि वृत्तियों का तिरस्कार परमानन्दरूप नियम है, जिसका विद्वान् नियमपूर्वक अनुकरण करते हैं ॥ १०५ ॥

त्यागः प्रपञ्चरूपस्य चिदात्मत्वावलोकनात् ॥
त्यागो हि महतां पूज्यः सद्यो मोक्षमयो यतः॥१०६॥

चिदात्मक दृष्टि से प्रपञ्च के रूप का त्याग करना ही त्याग है, त्याग की महात्माओं ने बड़ी श्लाघा की है क्योंकि वह शीघ्र ही मोक्षदाता है ॥ १०६ ॥

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥
यन्मौनं योगिभिर्गम्यं तद्भजेत्सर्वदा बुधः ॥१०७॥

मन के साथ वाग् आदि इन्द्रियाँ जिसको न पाकर लौट जाती हैं, योगी लोग ही जिसे पा सकते हैं एवं जो मौनस्वरूप है, सदा उसी ब्रह्म का सेवन विद्वान् को करना चाहिये ॥ १०७ ॥

वाचो यस्मान्निवर्तन्ते तद्वक्तुं केन शक्यते ॥
प्रपञ्चो यदि वक्तव्यः सोऽपि शब्दविवर्जितः ॥१०८॥

जिससे वाणियाँ निवृत्त होती हैं, अर्थात् जहाँ तक वाणियों की पहुँच ही नहीं है, उसका वर्णन कौन कर सकता है। यदि कहिये प्रपञ्च का वर्णन करना चाहिये, क्योंकि वह तो वर्णन योग्य है, यह कहना भी उचित नहीं है, कारण कि प्रपञ्च भी शब्दरहित है, अनिर्वचनीय है ॥ १०८ ॥

इति वा तद्भवेन्मौनं सतां सहजसंज्ञितम् ॥
गिरा मौनं तु बालानां प्रयुक्तं ब्रह्मवादिभिः ॥१०९॥

महात्माओं का यह स्वाभाविक मौन (सहजावस्था) है, वाणी का मौन तो ब्रह्मवादियों ने मूर्खों के लिए कहा है ॥ १०९ ॥

आदावन्ते च मध्ये च जनो यस्मिन्न विद्यते ॥
येनेदं सततं व्याप्तं स देशो विजनः स्मृतः ॥११०॥

आदि, मध्य और अन्त में जिसमें जन नहीं है और जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है, वह देश विजन कहा गया है ॥ ११० ॥

कलनात्सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां निमेषतः ॥
कालशब्देन निर्दिष्टो ह्यखण्डानन्द अद्वयः ॥१११॥

ब्रह्म आदि समस्त भूतों का निमेष मात्र में संहार करने से काल शब्द का अर्थ अखण्डआनन्दस्वरूप, अद्वय ईश्वर ही है ॥ १११ ॥

सुखेनैव भवेद् यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम् ॥
आसनं तद्विजानीयान्नेतरत्सुखसाधनम् ॥११२॥

जिस स्थिति में सुख से निरन्तर ब्रह्म का चिन्तन होवे उसी को आसन जानना चाहिये ॥ ११२ ॥

सिद्धं यत्सर्वभूतादि विश्वाधिष्ठानमव्ययम् ॥
यस्मिन्सिद्धाः समाविष्टास्तद्वै सिद्धासनं विदुः ॥११३॥

जो सब भूतों से आदि सिद्ध है, सारे विश्व का अधिष्ठान एवं अविनाशी है और जिसमें समस्त सिद्ध लोग प्रविष्ट हुए हैं, विद्वान् लोग उसी को सिद्धासन कहते हैं ॥ ११३ ॥

यन्मूलं सर्वभूतानां यन्मूलं चित्तबन्धनम् ॥
मूलबन्धः सदा सेव्यो योगोऽसौ राजयोगिनाम् ॥११४॥

जो सब भूतों का मूल कारण है, और जो चित्त के बन्धनों का मूल है, उस मूलबन्धन का सदा सेवन करना चाहिये, राजयोगियों का यही योग है ॥ ११४ ॥

अङ्गानां समतां विद्यात्समे ब्रह्मणि लीयते ॥
नोचेन्नैव समानत्वमृजुत्वं शुष्कवृक्षवत् ॥११५॥

सर्वत्र सम जो ब्रह्म उसमें अङ्गों का लय कर देवे (सब अङ्गों का ब्रह्मरूप से चिन्तन करे, यही अङ्गों की समता है)। यदि यह नहीं है तो वह समानता नहीं है, सूखे पेड़ के समान सीधापन है ॥ ११५ ॥

दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद् ब्रह्ममयं जगत् ॥
सा दृष्टिः परमोदारा न नासाग्रावलोकिनी ॥११६॥

ज्ञानमय दृष्टि से ब्रह्ममय जगत् को देखे वही दृष्टि श्रेष्ठ है, नासिका के अग्रभाग में स्थित दृष्टि श्रेष्ठ नहीं है ॥ ११६ ॥

द्रष्टृदर्शनदृश्यानां विरामो यत्र वा भवेत् ॥
दृष्टिस्तत्रैव कर्तव्या न नासाग्रावलोकिनी ॥११७॥

जहाँ पर द्रष्टा, दर्शन और दृश्य इन तीनों का अभाव है, वहीं पर दृष्टि करनी चाहिये; नासिका के अग्रभाग में स्थित दृष्टि प्रशस्त नहीं है ॥ ११७ ॥

चित्तादि सर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात् ॥
निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते ॥११८॥

चित्त आदि समस्त पदार्थों में ब्रह्म-भावना करने से जो सब वृत्तियों का निरोध है, वही प्राणायाम कहा गया है ॥ ११८ ॥

निषेधनं प्रपञ्चस्य रेचकाख्यः समीरणः ॥
ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायुरीरितः ॥११९॥

नेति नेति आदि श्रुतियों से प्रपञ्च का निषेध करना रेचक नामक प्राणायाम है तथा मैं ब्रह्म ही हूँ ऐसी वृत्ति करना पूरक नामक प्राणायाम कहा गया है ॥ ११९ ॥

ततस्तद्वृत्तिनैश्चल्यं कुम्भकः प्राणसंयमः ॥
अयं चापि प्रबुद्धानामज्ञानां घ्राणपीडनम् ॥१२०॥

पूर्वोक्त वृत्तियों को निश्चल कर देना कुम्भक प्राणायाम है, यह प्राणायाम ज्ञानियों का है। अज्ञानियों का प्राणायाम तो केवल नाक को पीड़ित करना मात्र है ॥ १२० ॥

विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा मनसश्चितिमज्जनम् ॥
प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुमुक्षुभिः ॥१२१॥

विषयों में आत्मभाव को देखकर मन का चैतन्य में निमग्न हो जाना प्रत्याहार है, मुमुक्षु जनों को इसका बार बार अभ्यास करना चाहिये ॥ १२१ ॥

यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनम् ॥
मनसो धारणा यैव धारणा सा परा मता ॥१२२॥

जिस जिस विषय में मन जावे उसी में ब्रह्मदर्शन होने से मन की उसी विषय में जो स्थिति है, वही श्रेष्ठ स्थिति है ॥ १२२ ॥

ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्त्या निरालम्बतया स्थितिः ॥
ध्यानशब्देन विख्याता परमानन्ददायिनी ॥१२३॥

मैं ब्रह्म ही हूँ, इस श्रेष्ठ वृत्ति से आलम्ब रहित जो स्थिति वही ध्यान शब्द से कही गई है और वह परम आनन्ददायिनी है ॥१२३॥

निर्विकारतया वृत्त्या ब्रह्माकारतया पुनः ॥
वृत्तिविस्मरणं सम्यक् समाधिर्ज्ञानसंज्ञकः ॥१२४॥

पहिले वृत्ति को निर्विकार कर फिर ब्रह्माकार करके जो वृत्ति का विस्मरण करना है, वही ज्ञानसंज्ञक समाधि है ॥ १२४ ॥

एवं चाकृत्रिमानन्दं तावत्साधु समभ्यसेत् ॥
वश्यो यावत्क्षणात्पुंसः प्रयुक्तः स भवेत्स्वयम् ॥१२५॥

इस अकृत्रिम (स्वतःसिद्ध) आनन्द का तब तक अभ्यास करता रहे जब तक मन क्षण क्षण में अनायास वश में न होने लग जाय ॥ १२५ ॥

ततः साधननिर्मुक्तः सिद्धो भवति योगिराट् ॥
तत्स्वरूपं न चैकस्य विषयो मनसो गिराम् ॥१२६॥

इसके अनन्तर योगिराज साधन के विना ही सिद्ध हो जाता है । वह स्वरूप किसी की भी मन-वाणी का विषय नहीं है ॥१२६॥

समाधौ क्रियमाणे तु विघ्ना आयान्ति वै बलात् ॥
अनुसन्धानराहित्यमालस्यं भोगलालसम् ॥१२७॥

लयस्तमश्च विक्षेपो रसास्वादश्च शून्यता ॥
एवं यद्विघ्नबाहुल्यं त्याज्यं ब्रह्मविदा शनैः ॥ १२८ ॥

समाधि करते समय नाना प्रकार के विघ्न बलात् आते हैं, जैसे स्मरणाभाव, आलस्य, भोगों की इच्छा, निद्रा, तन्द्रा, विक्षेप (विषयाकार वृत्ति), रसास्वाद (ब्रह्मदर्शन से पूर्व ही वृत्तियों के रुकने से आनन्द) और शून्यता (अन्धकार सा) ऐसे विघ्नों का ब्रह्मज्ञानी को शनैः शनैः त्याग करना चाहिए ॥ १२७—१२८ ॥

भाववृत्त्या हि भावत्वं शून्यवृत्त्या हि शून्यता ॥
ब्रह्मवृत्त्या हि पूर्णत्वं तथा पूर्णत्वमभ्यसेत् ॥ १२९ ॥

भाववृत्ति (अस्ति आत्मा) से भावत्व (उत्तम लोकों की प्राप्ति), शून्य वृत्ति (नास्ति आत्मा) से शून्यता (स्थावरादि योनियों की प्राप्ति) होती है, एवं ब्रह्मवृत्ति से (मैं ब्रह्म ही हूँ ऐसी वृत्ति से) पूर्णता प्राप्त होती है। पूर्णता का ही अभ्यास करना चाहिए ॥ १२९॥

ये हि वृत्तिं जहत्येनां ब्रह्माख्यां पावनीं पराम् ॥
वृथैव ते तु जीवन्ति पशुभिश्च समा नराः ॥ १३० ॥

जो लोग परम पावन इस ब्रह्मात्मक वृत्ति का त्याग करते हैं, वे वृथा जीते हैं और पशुओं के समान हैं ॥ १३० ॥

ये हि वृत्तिं विजानन्ति ये ज्ञात्वा वर्द्धयन्त्यपि ॥
ते वै सत्पुरुषा धन्या वन्द्यास्ते भुवनत्रये ॥१३१॥

जो लोग इस वृत्ति को जानते हैं और जानकर बढ़ाते भी हैं वे सज्जन ही धन्य हैं और तीनों लोकों में पूज्य हैं ॥ १३१ ॥

येषां वृत्तिः समा वृद्धा परिपक्वा च सा पुनः ॥
ते वै सद्ब्रह्मतां प्राप्ता नेतरे शब्दवादिनः ॥ १३२ ॥

जिनकी वृत्ति सम है, वृद्धि को प्राप्त हो गई और फिर परिपाकावस्था को पहुँच गई है, वे ही ब्रह्मता को प्राप्त हुए हैं। शाब्दिक ज्ञानी लोग ब्रह्मरूप नहीं हुए ॥ १३२ ॥

कुशला ब्रह्मवार्तायां वृत्तिहीनाः सुरागिणः ॥
तेऽप्यज्ञानितमा नूनं पुनरायान्ति यान्ति च ॥ १३३ ॥

जो लोग वेदान्तचर्चा में निपुण हैं, ब्रह्माकार वृत्ति से रहित हैं और विषयों में प्रेम रखते हैं, अवश्य ही वे परम अज्ञानी जन जन्म लेते हैं और मरते हैं अर्थात् मोक्ष मार्ग पर कदापि आरूढ़ नहीं हो सकते ॥ १३३ ॥

निमेषार्धं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्ममयीं विना ॥
यथा तिष्ठन्ति ब्रह्माद्याः सनकाद्याः शुकादयः ॥ १३४ ॥

जो लोग क्षणमात्र भी ब्रह्माकार वृत्ति के बिना नहीं रहते, उनको ब्रह्मादि, सनकादि और शुकादि के समान उच्च स्थान मिलता है ॥ १३४ ॥

कार्ये कारणता याता कारणे न हि कार्य्यता ॥
कारणत्वं स्वतो गच्छेत्कार्य्याभावे विचारतः ॥ १३५ ॥

कार्य में (घट में) कारण (मृत्तिका) होता है, कारण (मृत्तिका) में कार्य (घट) नहीं होता। विचारदृष्टि से कार्य

का अभाव (लय चिन्तन) करके कारणता (ब्रह्म रूपता) को प्राप्त होना चाहिए ॥ १३५ ॥

अथ शुद्धं भवेद्वस्तु यद्वै वाचामगोचरः ॥
द्रष्टव्यं मृद्घटेनैव दृष्टान्तेन पुनः पुनः ॥ १३६ ॥

इस प्रकार अभ्यास करने से उस शुद्ध ब्रह्म को, जो वाणी का अविषय है, स्वतः प्राप्त हो जाता है। बार बार घट और मिट्टी के दृष्टान्त से यह देखना चाहिये ॥ १३६ ॥

अनेनैव प्रकारेण वृत्तिर्ब्रह्मात्मिका भवेत् ॥
उदेति शुद्धचित्तानां वृत्तिज्ञानं ततः परम् ॥ १३७ ॥

इसी प्रकार से ब्रह्माकार वृत्ति उत्पन्न होती है, इसके अनन्तर शुद्धचित्त पुरुषों को वृत्ति का ज्ञान होता है ॥ १३७ ॥

कारणं व्यतिरेकेण पुमानादौ विलोकयेत् ॥
अन्वयेन पुनस्तद्धि कार्ये नित्यं प्रपश्यति ॥ १३८ ॥

पहिले पुरुष कारण (मृत्तिका) को व्यतिरेक से (घट से पृथक्) देखे, फिर अन्वय से (कार्यरूप घट में मिली हुई मृत्तिका को) नित्य कार्य में देखे ॥ १३८ ॥

कार्ये हि कारणं पश्येत्पश्चात्कार्यं विवर्जयेत् ॥
कारणत्वं स्वतो नश्येदवशिष्टं भवेन्मुनिः ॥ १३९ ॥

कार्य में कारण को देखे फिर कार्य का लयचिन्तन से त्याग कर दे, तब कारणभाव नष्ट हो जाता है, शेष जो शुद्ध स्वरूप है, वही मुनि है, न कार्य है न कारण ॥ १३९ ॥

भावितं तीव्रवेगेण वस्तु यन्निश्चयात्मना ॥
पुमांस्तद्धि भवेच्छीघ्रं ज्ञेयं भ्रमरकीटवत् ॥ १४० ॥

तीव्र वेग से निश्चयात्मक वृत्ति द्वारा पुरुष जिस वस्तु का ध्यान करता है भ्रमर और कीट के समान शीघ्र ही उसी रूप को प्राप्त हो जाता है ॥ १४० ॥

अदृश्यं भावरूपं च सर्वमेतच्चिदात्मकम् ॥
सावधानतया नित्यं स्वात्मानं भावयेद् बुधः ॥१४१॥

यह सारा जगत्, मनवचनागोचर तथा सचित् आत्म स्वरूप ही है, विद्वान् पुरुष को चाहिये कि वह आत्मा का नित्य ध्यान करे ॥ १४१ ॥

दृश्यं ह्यदृश्यतां नीत्वा ब्रह्माकारेण चिन्तयेत् ॥
विद्वान् नित्यसुखे तिष्ठेद् धिया चिद्रसपूर्णया ॥१४२॥

दृश्य जगत् को अदृश्य करके उसका ब्रह्माकार से चिन्तन करे, विद्वान् चैतन्य रस से परिपूर्ण वृत्ति से नित्य सुख में मग्न रहे ॥ १४२ ॥

एभिरङ्गैः समायुक्तो राजयोग उदाहृतः ॥
किञ्चित्पक्वकषायाणां हठयोगेन संयुतः ॥ १४३ ॥

पूर्वोक्त १५ अङ्गों से युक्त यह राजयोग कहा गया है, जिनका मन कुछ परिपक्व हो गया हो उनको हठयोग का भी संयोग करना चाहिये ॥ १४३ ॥

परिपक्वं मनो येषां केवलोऽयं च सिद्धिदः ॥
गुरुदैवतभक्तानां सर्वेषां सुलभो भवेत् ॥ १४४ ॥

श्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादविरचिता
परोक्षानुभूतिः समाप्ता

जिनका मन परिपक्व हो चुका है उनको ही राजयोग सिद्ध हो सकता है। गुरु तथा ईश्वर के भक्तों के लिए वह अत्यन्त सरल है ॥ १४४ ॥



आत्मबोधश्लोकसूची

प्रौढानुभूतिश्लोकसूची

लघुवाक्यवृत्तिश्लोकसूची

तत्त्वोपदेशश्लोकसूची

अपरोक्षानुभूतिश्लोकसूची

अच्युतग्रन्थमाला से प्रकाशित पुस्तकों का सूचीपत्र—

(क) विभाग

१. **भगवन्नामकौमुदी**—[भगवन्नाम की महिमा का प्रतिपादक अनुपम ग्रन्थ] मीमांसा के धुरन्धर विद्वान् श्रीलक्ष्मीधर की कृति, अनन्तदेव रचित 'प्रकाश' टीका सहित। सम्पादक—आचार्यवर दामोदरलाल गोस्वामी।

पृ० सं० १५०, मू०—आ० १०

२. **भक्तिरसायन**—[भक्तिस्वरूप का परिचायक अत्युत्तम ग्रन्थ] यतिवर मधुसूदन सरस्वती रचित, प्रथम उल्लास में ग्रन्थकार रचित शेष दो उल्लासों में आचार्यवर श्रीदामोदरलाल गोस्वामी रचित टीका से विभूषित। सं०--आचार्यवर दामोदरलाल, गोस्वामी। पृ० सं० १०० मू०—आ० १२

३. **शुल्वसूत्र**—[कात्यायन श्रौतसूत्र का परिशिष्ट अंश] वेदाचार्य्य पं० विद्याधर गौड़ की बनाई हुई सरलवृत्ति सहित। सं०—वेदाचार्य विद्याधर गौड़।

पृ० सं० ६८, मू०—आ० ४

४. **कात्यायनश्रौतसूत्र**—[इसमें दर्शपूर्णमास से लेकर अश्वमेध, पितृमेध पर्यन्त कितने ही यज्ञों की विधियाँ साङ्गोपाङ्ग वर्णित हैं] महर्षि कात्यायन प्रणीत, वेदाचार्य पं० विद्याधर गौड़ द्वारा रचित सुसरल वृत्ति से अलङ्कृत। सं०—वेदाचार्य विद्याधर गौड़। पृ० सं० लगभग १०००, मू०—रु० ६

५. **प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि**—(प्रथम भाग) [शाङ्करभाष्यानुसार वेदान्त का सुसरल पद्यमय ग्रन्थ] श्रीसदानन्द व्यास

विरचित, ग्रन्थकार रचित सरल संस्कृत टीका सहित। सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री। पृ० सं० ३४०, मू०—रु० २

६. **भक्तिरसामृतसिन्धु**—[भक्तिरस से परिपूर्ण यह ग्रन्थ सचमुच पीयूषसिन्धु है] श्रीरूप गोस्वामी प्रणीत, श्रीजीव गोस्वामी प्रणीत दुर्गमसङ्गमनी टीका सहित। सं०—आचार्यवर दामोदरलाल गोस्वामी। पृ० सं० ६२५, मू०—रु० ३

७. **प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि**—(द्वितीय भाग)
पृ० सं० ४५०, मू०—रु० २ आ० ४

८—**तिथ्यर्क**—[तिथियों के निर्णय आदि पर अपूर्व एवं प्रामाणिक ग्रन्थ] श्रीदिवाकरविरचित। सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री। पृ० सं० ३४०, मू०—रु० १ आ० ८

९. **परमार्थसार**—(वेदान्त का अति प्राचीन ग्रन्थ) श्रीपतञ्जलि भगवान् की कृति प्राचीन टीका तथा टिप्पणी से विभूषित सं०—न्याय-व्याकरणाचार्य श्रीसूर्यनारायण शुक्ल।
पृ० सं० १००, मू०—आ० ६

१०. **प्रेमपत्तन**—[कृष्णभक्ति से सराबोर चैतन्य सम्प्रदाय का एक अपूर्व ग्रन्थ] भक्तवर रसिकोत्तंस की कृति तथा अद्भुत प्रणीत टीका से अलङ्कृत। सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री। पृ० सं० २३०, मू०—रु० १

(ख) विभाग

१. **खण्डनखण्डखाद्य**—[उच्च कोटि का वेदान्तग्रन्थ] कवितार्किकशिरोमणि श्रीहर्ष रचित, पण्डितवर श्रीचण्डीप्रसाद शुक्ल विरचित भाषानुवाद से विभूषित।
पृ० सं० ४३५ (बड़ा आकार), मू०—रु० २ आ० १२

२. **काशीकेदार-माहात्म्य**—[ब्रह्मवैवर्तपुराणान्तर्गत] साहित्य-रञ्जन श्रीविजयानन्द त्रिपाठी द्वारा विरचित भाषानुवाद सहित। सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री।

पृ० सं० २६ + ६०४, मू०—रु० २ आ० ८

३. **सिद्धान्तबिन्दु**—[वेदान्त का प्रमेय-बहुल अपूर्व ग्रन्थ] आचार्यप्रवर मधुसूदन सरस्वती विरचित, भाषानुवाद तथा टिप्पणी से विभूषित। सं०—साहित्याचार्य्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री।

पृ० सं० २८०, मू०—रु० १ आ० ४

४. **प्रकरणपञ्चक**—भगवान् शङ्कराचार्य के आत्मबोध, प्रौढानुभूति, तत्त्वोपदेश आदि ५ प्रकरण-ग्रन्थों का भाषानुवाद सहित संग्रह। सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री।

पृ० सं० १३०, मू०—आ० ८

यन्त्रस्थ ग्रन्थ—

(क) विभाग में

१. षट्सन्दर्भ, विविध टीकाओं से विभूषित।

(ख) विभाग में

२. भक्तिरसायन, भाषा टीका सहित।

मिलने का पता—

(१) अच्युतग्रन्थमाला कार्यालय, काशी।

(२) गीता प्रेस, गोरखपुर।

नोट—अच्युतग्रन्थमाला के स्थायी ग्राहकों को उक्त सभी पुस्तकें पौन मूल्य पर दी जायँगी।

